२

साहित्यिक अवदान

साहित्य संस्कृति का उद्‌वाहक तत्त्व है। संस्कृति के हर कोने को साहित्य के अन्तस्तल में देखा जा सकता है। जैन साहित्य की विविधता और प्राञ्जलता में उसकी संस्कृति को पहचानना कठिन नहीं। जैनाचार्यों ने अपने आपको लौकिक जीवन से समरस बनाये रखा। इसके लिए उन्होंने प्राकृत और अपभ्रंश जैसी लोकभाषाओं किंवा बोलियों को अपनी अभिव्यक्ति का साधन स्वीकार किया। आवश्यकता प्रतीत होने पर उन्होंने संस्कृत को भी पूरे मन से अपनाया। यहाँ हम जैनाचार्यों द्वारा प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश तथा आधुनिक भारतीय भाषाओं में रचित साहित्य का एक अत्यन्त संक्षिप्त सर्वेक्षण प्रस्तुत कर रहे हैं जिसे हम उनका विशिष्ट अवदान कह सकते हैं।

भाषा और साहित्य

भाषा और साहित्य संस्कृति के अविच्छिन्न अंग हैं, उसके अजस्र स्रोत हैं। अभिव्यक्ति के साधनों में उनका अपना अनुपम स्थान है। समय और परिस्थिति के थपेड़ों में नया धर्म और नयी भाषा का जन्म होता है। समाज की बदलती दीवारें और उनकी अकथ्य कहानी को अचूक रूप से प्रस्तुत करने वाले ये दो ही प्रतिष्ठित रूप हैं— जिन्हें सदियों तक स्वीकारा जाता है। भाषा विचारों का प्रतिबिम्ब है, जिन्हें सुघढ़तापूर्वक कागद पर अंकित कर दिया जाता है। पाठक के लिए अनदेखी घटनायें सद्यः घटित-सी दिखाई देने लगती हैं।

प्राकृत भाषाओं में लिखा साहित्य इसी प्रकार की अनुभूतियों और जिज्ञासाओं से आपूरित है। उनका हर पन्ना एक क्रान्तिकारी विचारधारा के विभिन्न पहलुओं से रंगा हुआ है। कहीं वह दकियानूसी और मूढ़ता से सने तथाकथित सिद्धान्तों का खण्डन करता हुआ दिखाई देता है तो कहीं संसार के घने पीड़ा भरे जंगलों में भटकते हुए प्राणी को सम्यक्-दृष्टि से सिञ्चित चिरन्तन अध्यात्म का सन्देश प्रचारित करते हुए नजर आता है। यज्ञ बहुल हिंसा-अहिंसा की परिभाषा बनाने वाली संस्कृति का विरोध भी यहाँ मुखरित हुआ है। अहिंसा की उस प्राचीन डगमगाती दीवार को तोड़कर नया प्रासाद खड़ा करने का उपक्रम इन दोनों भाषाओं

Jain Education International 2010_04 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

के साहित्य में स्पष्ट झलकता है। समानता, आत्मशक्ति का वर्चस्व, श्रम की प्रतिष्ठा, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का समन्वित पोषण, आत्मा की विस्मृत शक्ति के रूप में विशुद्ध सुखद निर्वाण का अस्तित्व, नैतिक उत्तरदायित्व, समाज का सर्वाङ्गीण अभ्युत्थान, वर्गविहीन क्रान्ति, मिथकों का तार्किक रूपान्तरण आदि जैसे प्रगतिशील सामाजिक और आध्यात्मिक तत्त्वों का मूल्याङ्कन करने वाला यही श्रमण साहित्य रहा है। अत: उसे भारतीय साहित्य का नित नवीन अक्षुण्ण अंग माना जाना अपरिहार्य है।

प्राकृत भाषा और आर्यभाषाएँ

भाषा संप्रेषणशीलता से जुड़ी हुई है। विचारों के प्रवाह के साथ उसकी संप्रेषणशीलता बढ़ती चली जाती है। सृष्टि के प्रथम चरण की भाषा की उत्पत्ति का इतिहास यहीं से प्रारम्भ होता है। मानवीय इतिहास और संस्कृति की धरोहर का संरक्षण भाषा की प्रमुख देन है। उसके उतार-चढ़ाव का दिग्दर्शन कराना भी भाषा का विशिष्ट कार्य है। इस दृष्टि से प्राकृत भाषा और साहित्य का सही मूल्याङ्कन अभी शेष है।

भाषाविज्ञान की दृष्टि से प्राकृत भाषा का सम्बन्ध भारोपीय भाषा-परिवार में भारतीय आर्यशाखा परिवार से है। विद्वानों ने साधारणत: तीन भागों में इस भाषा-परिवार के विकास को विभाजित किया है -

१) प्राचीन भारतीय आर्यभाषा काल - १६०० ई०पू० से ६०० ई०पू० तक

२) मध्यकालीन आर्यभाषा काल - ६०० ई०पू० से १००० ई० तक

३) आधुनिक आर्यभाषा काल - १००० ई० से आधुनिक काल तक।

प्राकृत भाषायें प्राचीन कालीन जनसामान्य बोलियों का प्रतिनिधित्व करती हैं। उन्हें सामान्यत: 'प्राकृत' की संज्ञा दी जाती है। प्राकृत की प्राचीनतम स्थिति को समझने के लिए हमें तुलनात्मक भाषाविज्ञान का आश्रय लेना पड़ेगा। इसका सम्बन्ध भारोपीय परिवार से है जिसकी मूलभाषा 'इयु' अथवा 'आर्यभाषा' रही है। इसका मूल निवास लिथूनिया से लेकर दक्षिण रूस के बीच कहीं था। यहीं से यह गण अनेक भागों में विभाजित हुआ। उनमें से रूस गण मेसोपोटामियन होता हुआ भारत आया। यही कारण है कि ईरान की प्राचीन भाषा और भारत की प्राचीन भाषा का गहरा सम्बन्ध दिखाई देता है। अवेस्ता और ऋग्वेद की भाषाओं के अध्ययन से यह अनुमान किया जाता है कि यह आर्य शाखा किसी समय पामीर के आस-पास कहीं एक स्थान पर साथ रही होगी और वहीं

Jain Education International 2010_04 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कुछ लोग ईरान की ओर और कुछ भारत की ओर आये होंगे। भारत में आने पर 'इयु' की ध्वनियों में परिवर्तन हो गया। उदाहरण के रूप में इयु का ह्रस्व और दीर्घ अ, ए और ओ इण्डो-ईरानी में लुप्त हो गया। ऋग्वेद और अवेस्ता की तुलना से यह तथ्य और अधिक स्पष्ट हो जाता है।

प्राचीन भारतीय आर्यभाषा का स्वरूप ऋग्वेद और अथर्ववेद में दिखाई देता है। उच्चा, नीचा, दूलभ, पश्चा आदि शब्द इसके उदाहरण हैं। उस समय तक जनभाषा या बोली के ये रूप विकसित होकर छान्दस् का रूप ले चुके थे। इसके बावजूद उसमें जनभाषिक तत्त्व छिप नहीं सके। जनभाषा के परिष्कृत और विकसित रूप पर ही यास्क ने अपना निरुक्तशास्त्र लिखा। पाणिनि के आते-आते वह भाषा निश्चित ही साहित्यिक हो चुकी होगी। पाणिनि के पूर्ववर्ती शाकटायन, शाकल्य आदि वैयाकरणों में से किसी ने जनभाषा को व्याकरण में परिबद्ध करने का प्रयत्न किया हो तो कोई असम्भव नहीं।

परवर्ती वैदिककाल में देश्य भाषाओं के तीन रूप मिलते हैं — (१) उदीच्य या उत्तरीय विभाषा, (२) मध्यदेशीय विभाषा, (३) प्राच्य या पूर्वीय भाषा। उदीच्य विभाषा सप्तसिन्धु प्रदेश की परिनिष्ठित मध्यदेशीय भाषा मध्यम मार्गीय थी तथा प्राच्य भाषा पूर्वी उत्तर प्रदेश, अवध और बिहार में बोली जाती थी। प्राच्य भाषा-भाषी यज्ञीय संस्कृति में विश्वास न करने वाले प्राच्य लोग थे। भगवान् बुद्ध और महावीर ने इसी जनभाषा को अपनी अभिव्यक्ति का साधन बनाया था। पालि-प्राकृत भाषायें इसी के रूप हैं। डॉ० सुनीति कुमार चाटूर्ज्या ने इस सन्दर्भ में लिखा है — "व्रात्य लोग उच्चारण में सरल एक वाक्य को कठिनता से उच्चारणीय बतलाते हैं और यद्यपि वे दीक्षित नहीं हैं, फिर भी दीक्षा पाये हुओं की भाषा बोलते हैं। इस कथन से स्पष्ट है कि पूर्व के आर्य लोग (व्रात्य) संयुक्त व्यञ्जन, रेफ एवं सोष्म ध्वनियों का उच्चारण सरलता से नहीं कर पाते थे। संयुक्त व्यञ्जनों का यह समीकृत रूप ही प्राकृत ध्वनियों का मूलाधार है। इस प्रकार वैदिक भाषा के समानान्तर जो जनभाषा चली आ रही थी, वही आदिम प्राकृत थी। पर इस आदिम प्राकृत का स्वरूप भी वैदिक साहित्य से ही अवगत किया जा सकता है।"[१]

आर्यभाषा के मध्यकाल में द्राविड और आग्नेय जातियों का प्रभाव स्पष्टतः देखा जा सकता है। मूर्धन्य ध्वानियों का अस्तित्व द्रविड परिवार का ही प्रभाव

---

१. भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, पृष्ठ ७२; प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृष्ठ ६.

Jain Education International 2010_04 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है। छान्दस् में ळ ध्वनि प्राकृत से पहुँची हुई है। वैदिक और परवर्ती संस्कृत में न के स्थान पर ण हो जाना (जैसे फण, पुण्य, निपुण आदि) तथा रेफ के स्थान पर ल हो जाना जैसी प्रवृत्तियाँ भी प्राकृत के प्रभाव की दिग्दर्शिका हैं।

प्राकृत और छान्दस् भाषा

प्राकृत भाषा की प्रवृत्तियों की ओर दृष्टिपात करने पर ऐसा लगता है कि उसका विकास प्राचीन आर्यभाषा छान्दस् से हुआ है, जो उस समय की जनभाषा रही होगी। जनभाषा के रूपों को अलग कर छान्दस् का निर्माण हुआ होगा, जो कुछ शेष रह गये उनका उत्तर काल में विकास होता रहा। प्राकृत और वैदिक भाषाओं की तुलना करने पर यह तथ्य और भी स्पष्ट हो जाता है —

i) प्राकृत में व्यञ्जनान्त शब्दों का प्रयोग प्रायः नहीं होता, परन्तु वैदिक भाषा में वह कहीं होता है और कहीं नहीं भी होता।

ii) प्राकृत में विजातीय स्वरों का लोप हो जाता है और पूर्ववर्ती ह्रस्व स्वर को दीर्घ हो जाता है। जैसे - निश्वास का नीसास। वैदिक संस्कृत में भी यह प्रवृत्ति मिलती है। जैसे — दुर्नाश का दूर्णाश।

iii) स्वरभक्ति का समान प्रयोग मिलता है। प्राकृत में स्व को सुव होता है तो वैदिक संस्कृत में भी तन्वः का तनुवः मिलता है।

iv) प्राकृत में तृतीया का बहुवचन देवेहि मिलता है, तो वैदिक संस्कृत में भी देवेभि मिलता है।

v) प्रारम्भ में ही प्राकृत में ऋ का इ, अ, ड आदि ध्वनियों में परिवर्तन हुआ जो वैदिक साहित्य में श्रिणोति, शिथिर आदि रूपों में देखा जाता है।

छान्दस् और प्राकृत भाषा की तुलना करने पर यह तथ्य सामने आता है कि उसके पूर्व की जनभाषा प्राकृत थी जिससे छान्दस् साहित्यिक भाषा का विकास हुआ। छान्दस् साहित्यिक भाषा को ही परिमार्जित कर संस्कृत भाषा का रूप सामने आया। परिमार्जित करने के बावजूद छान्दस् में जो शेष तत्त्व थे उनका विकास होता गया और उसी ने प्राकृत का रूप लिया। छान्दस् से प्राकृत और संस्कृत, दोनों भाषाओं की उत्पत्ति होने पर भी संस्कृत भाषा नियमों और उपनियमों में बंध गई, पर प्राकृत को जनभाषा रहने के कारण बांधा नहीं जा सका। इस दृष्टि से प्राकृत को बहता नीर कहा गया है और संस्कृत को बद्ध सरोवर। प्राचीन प्राकृत से ही उत्तरकाल में मध्यकालीन प्राकृत का विकास हुआ

Jain Education International 2010_04 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और मध्यकालीन प्राकृत से ही अपभ्रंश तथा अपभ्रंश से हिन्दी, मराठी, बंगला, गुजराती आदि आधुनिक भाषाओं का जन्म हुआ। इस प्रकार बोलियों में साहित्य-सृजन होता गया और वे भाषा का रूप लेती गईं। प्राकृत का विकास अवरुद्ध नहीं हुआ, बल्कि उनसे निरन्तर नई-नई भाषाओं का जन्म होता गया। संस्कृत भाषा भी इन प्राकृत बोलियों से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकी।

प्राकृत : जनभाषा का रूप

सदियों से प्राकृत भाषा की उत्पत्ति के सन्दर्भ में विवाद के स्वर गूंजते रहे हैं। प्राकृत और संस्कृत इन दोनों भाषाओं में प्राचीनतर तथा मूल भाषा कौन-सी है? इस प्रश्न के समाधान में दो पक्ष प्रस्तुत किये गये हैं। प्रथम पक्ष का कथन है कि प्राकृत की उत्पत्ति संस्कृत से हुई है तथा दूसरा पक्ष उसका सम्बन्ध किसी प्राचीन जनभाषा से स्थापित करता है। प्राकृत व्याकरणशास्त्र में दोनों पक्षों का विश्लेषण इस प्रकार मिलता है—

१. प्रथम पक्ष

i) प्रकृतिः संस्कृतम्। तत्र भवं तत आगतं वा प्राकृतम्- हेमचन्द्र।

ii) प्रकृतिः संस्कृतम्, तत्र भवं प्राकृतम् उच्यते — मार्कण्डेय।

iii) प्रकृतेः संस्कृतायाः तु विकृतिः प्राकृतिः मता— नरसिंह।

iv) प्राकृतस्य तु सर्वमेव संस्कृतं योनिः — वासुदेव।

v) प्राकृतेः आगतम् प्राकृतम्। प्रकृतिः संस्कृतम् — धनिक।

vi) संस्कृतात् प्राकृतं श्रेष्ठं ततोऽपभ्रंश भाषणम् — शंकर।

vii) प्रकृतेः संस्कृताद् आगतं प्राकृतम् — सिंहदेवगणिन्।

viii) प्रकृतिः संस्कृतम्, तत्र भवत्वात् प्राकृतं स्मृतम् — पीटर्सन।

(प्राकृतचन्द्रिका)

२. द्वितीय पक्ष

i) 'प्राकृतेति' सकलजगज्जन्तूनां व्याकरणादिभिरनाहितसंस्कारः सहजो वचनव्यापारः प्रकृतिः, तत्र भवं सैव वा प्राकृतम्। 'आरिसवयवो सिद्धं देवाणं अद्धमागहा वाणी' इत्यादि- वचनात् वा प्राक् पूर्वं कृतं प्राक्कृतं बालमहिलादिसुबोधं सकलभाषानिबन्धभूतं वचनमुच्यते। मेघनिर्मुक्तिजलमिवैकस्वरूपं तदेव च देशविशेषात् संस्कारकरणाच्च समोसादितविशेषं सत् संस्कृताद्युत्तरविभेदानाप्नोति।

Jain Education International 2010_04 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अतएव शास्त्रकृता प्राकृतमादौ निर्दिष्टं तदनु संस्कृतादीनि। पाणिन्यादिव्याकरणोदि शब्दलक्षणेन संस्करणात् संस्कृत-मुच्यते-नमिसाधु

ii) सयलाओ इमं वाया विसंति एत्तो य णेति वायाओ।

एंति समुद्दं चिय णेंति सायराओ च्चिय जलाइं।। - वाक्पतिराज

iii) यद् योनिः किल संस्कृतस्य सुदशां जिह्वासु यन्मोदते - राजशेखर।

उपर्युक्त दोनों पक्षों का विश्लेषण हम इस प्रकार कर सकते हैं कि प्राकृ वस्तुतः जनबोली थी, जिसे उत्तर काल में संस्कृत के माध्यम से समझने-समझा का प्रयत्न किया गया। प्राकृत भाषा के समानान्तर वैदिक संस्कृत अथवा छान्द भाषा थी, जिसका साहित्यिक रूप ऋग्वेद और अथर्ववेद में विशेष रूप से दृष्टव है। यास्क ने इसी पर निरुक्त लिखा और पाणिनि ने इसी को परिष्कृत किया विडम्बना यह है कि प्राकृत के प्राथमिक रूप को दिग्दर्शित कराने वाला को साहित्य उपलब्ध नहीं जिसके आधार पर उसकी वास्तविक स्थिति समझी ज सके। हाँ, यह अवश्य है कि प्राकृत के कुछ मूल शब्दों को वैदिक संस्कृत में प्रयुक्त शब्दों के माध्यम से समझा जा सकता है। वैदिक रूप विकृत, किंकृत, निकृत, दन्द्र, अन्द्र, प्रथ्, ग्रथ्, क्षुद्र क्रमशः प्राकृत के विकट, कीकट, निकट, दण्ड, अण्ड, पट्, घट, क्षुल्ल रूप थे जो धीरे-धीरे जनभाषा से वैदिक साहित्य में पहुंच गये।[१] इन शब्दों और ध्वनियों से यह कथन अतार्किक नहीं होगा कि प्राकृत जनबोली थी जिसे परिष्कृत कर छान्दस् भाषा का निर्माण किया गया जनबोली का ही विकास उत्तरकाल में पालि, प्राकृत, अपभ्रंश और आधुनिक भारतीय भाषाओं के रूप में हुआ तथा छान्दस् भाषा को पाणिनि ने परिष्कृत कर लौकिक संस्कृत का रूप दिया। साधारणतः लौकिक संस्कृत में तो परिवर्तन नहीं हो पाया पर प्राकृत जनबोली सदैव परिवर्तित अथवा विकसित होती रही संस्कृत भाषा को शिक्षित और उच्चवर्ग ने अपनाया तथा प्राकृत सामान्य समाज की अभिव्यक्ति का साधन बनी रही। यही कारण है कि संस्कृत नाटकों में सामान्य जनों से प्राकृत में ही वार्तालाप कराया गया है।

डॉ० पिशल ने होइफर, नास्सन, याकोबी, भण्डारकर आदि विद्वानों के इस मत का सयुक्तिक खण्डन किया है कि प्राकृत का मूल केवल संस्कृत है। उन्होंने सेनार से सहमति व्यक्त करते हुए कहा कि प्राकृत भाषाओं की जड़ें जनता की बोलियों के भीतर जमी हुई हैं और उनके मुख्य तत्त्व आदि काल में जीती-जागती और बोली जाने वाली भाषा से लिये गये हैं; किन्तु बोलचाल की वे भाषायें, जो बाद में साहित्यिक भाषाओं के पद पर चढ़ गईं, संस्कृत की भाँति ही बहुत

Jain Education International 2010_04 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ठोकी-पीटी गईं, ताकि उनका एक सुगठित रूप बन जाये।[१] अपने मत को सिद्ध करने के लिए उन्होंने सर्वप्रथम वैदिक शब्दों से साम्य बताया और बाद में मध्यकालीन और आधुनिक भारतीय बोलियों में सन्निहित प्राकृत भाषागत विशेषताओं को स्पष्ट किया।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि जिस प्रकार वैदिक भाषा उस समय की जनभाषा का परिष्कृत रूप है, उसी प्रकार साहित्यिक प्राकृत उत्तरकालीन बोलियों का परिष्कृत रूप है। उत्तरकाल में तो वह संस्कृत व्याकरण, भाषा और शैली से भी प्रभावित होती रही। फलतः लम्बे-लम्बे समास और संस्कृत से परिवर्तित प्राकृत रूपों का प्रयोग होने लगा। प्राकृत व्याकरणों की रचना की आधारशिला में भी इसी प्रवृत्ति ने काम किया।

प्राकृत का ऐतिहासिक विकासक्रम

प्राकृत का ऐतिहासिक विकास भी हम तीन स्तरों में विभाजित कर सकते हैं —

१. प्रथम स्तरीय प्राकृत — (१६०० ई०पू० से ६०० ई०पू०) — इस काल की जनबोली का रूप वैदिक या छान्दस् ग्रन्थों में मिलता है।

२. द्वितीय स्तरीय प्राकृत — इस काल में प्राकृत में जो साहित्य लिखा गया उसे तीन युगों में विभाजित किया जा सकता है —

i) प्रथम युगीन प्राकृत (६०० ई०पू० से ५०० ई०) —

i) अर्ध प्राकृत, (पालि, अर्धमागधी और जैन शौरसेनी), (ii) शिलालेखी प्राकृत, (iii) निया प्राकृत, (iv) प्राकृत धम्मपद की प्राकृत, (v) अश्वघोष के नामों की प्राकृत।

ii) द्वितीय युगीन प्राकृत (प्रथम शती से बारहवीं शती तक) —

अलङ्कार, व्याकरण, काव्य और नाटकों में प्रयुक्त प्राकृतें— महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी और पैशाची।

iii) तृतीय युगीन प्राकृत (पञ्चम शती से पन्द्रहवीं शती तक) —

अपभ्रंश।

---

१. भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, द्वि०सं०, पृ० ७४.

Jain Education International 2010_04 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्राकृत और संस्कृत

जैनाचार्यों ने प्राकृत के साथ ही संस्कृत भाषा को भी अपनी अभिव्यक्ति का साधन बनाया। प्राकृत का जैसे-जैसे विकास होता गया, उसकी बोलियाँ भाषाओं का रूप ग्रहण करती गईं। यह परिवर्तन संस्कृत में नहीं हो सका। इसका मूल कारण यह था कि पाणिनि आदि आचार्यों ने बहुत पहले ही उसे नियमों से जकड़ दिया, जबकि प्राकृत व्याकरणों की रचना संस्कृत व्याकरणों के आधार पर लगभग दशवीं शताब्दी में प्रारम्भ हुई। इस समय तक प्राकृत का विकास अपभ्रंश और आधुनिक भारतीय भाषाओं की आधारभूमि तक पहुँच चुका था।

ई० की लगभग द्वितीय शताब्दी से जैनाचार्यों ने संस्कृत भाषा में लिखना प्रारम्भ किया। उमास्वामी अथवा उमास्वाति इसके सूत्रधार थे जिन्होंने तत्त्वार्थसूत्र जैसा महनीय ग्रन्थ समर्पित किया। गुप्तकाल तक आते-आते संस्कृत और अधिक प्रतिष्ठित हो चुकी। इसके बावजूद वह जनभाषा नहीं बन सकी बल्कि सम्भ्रान्त परिवारों में उसका उपयोग लोकप्रिय अधिक हो गया। सिद्धर्षि (ई० ८०५) ने इस तथ्य को इस प्रकार से स्पष्ट किया है —

संस्कृता प्राकृता चेति भाषे प्राधान्यमर्हतः।
तत्रापि संस्कृता तावद् दुर्विदग्ध हृदि स्थिता।।

बालानामपि सद्बोधकारिणी कर्णपेशला।
तथापि प्राकृता भाषा न तेषामभिभाषते।।

उपायं सति कर्तव्यं सर्वेषां चित्तरंजनम्।
आतस्तदनुरोधेन संस्कृतेऽस्य करिष्यते।।[१]

हेमचन्द्र भी इसी तथ्य को अभिव्यक्त करते हुए दिखाई देते हैं। उनके अनुसार ११-१२वीं शताब्दी में भी सर्वसाधारण जनता प्राकृत भाषा का ही व्यवहार करती थी और अभिजात वर्ग ने संस्कृत भाषा को अपनाया था। काव्यानुशासन कारिका की टीका में लिखा है —

बालस्त्रीमन्दमूर्खाणां नृणां चारित्रकांक्षिणाम्।
अनुग्रहार्थं तत्त्वज्ञैः सिद्धान्तः प्राकृतः कृतः।।

इस प्रकार संस्कृत अभिजात एवं सुशिक्षित वर्ग की भाषा थी, जबकि प्राकृत का प्रयोग अशिक्षित तथा सामान्य वर्ग किया करता था। जैनधर्म के प्रचार-प्रसार

१. उपमितिभव प्रपंचकथा. १. ५१-५२.

Jain Education International 2010_04 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

की दृष्टि से जैनाचार्यों के लिए यह आवश्यक था कि वे संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओं पर समान रूप से अधिकार करें। ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों से ही साधारणत: यह देखा जाता है कि सभी जैनाचार्य इन दोनों भाषाओं के पण्डित रहे हैं। इतना ही नहीं, उन्होंने दोनों भाषाओं में साहित्य-सर्जना भी की है। अनेक आचार्यों ने तो अपने आपको "उभयभाषाचक्रवर्ती" भी लिखा है। यही कारण है कि जैन साधक आज भी संस्कृत, प्राकृत और आधुनिक भाषाओं में साहित्य-साधना कर रहे हैं।

अपभ्रंश और आधुनिक भारतीय भाषाएँ

प्राकृत भाषा किंवा बोली के चरण आगे बढ़ते गये और अपभ्रंश के रूप में उसका विकास निर्धारित होता गया। यहाँ अपभ्रंश का तात्पर्य है जनबोली अथवा ग्रामीण भाषा। प्रारम्भ में प्राकृत भी अपभ्रंश में गर्भित थी, परन्तु उसके साहित्यिक रूप में आ जाने पर उसका मूल रूप विकसित होने लगा। इसी कुछ विकसित अथवा परिवर्तित रूप को हम अपभ्रंश कहते हैं। धीरे-धीरे अपभ्रंश में भी साहित्य-सृजन होने लगा और भाषा भी क्रमश: विकसित होती गई। फलत: अवहट्ट आदि सोपानों को पार करती हुई वह भाषा किंवा बोली आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं को उत्पन्न करने में कारण बनी।

डॉ० भोलानाथ तिवारी के अनुसार आधुनिक आर्य भाषाओं का जन्म इस प्रकार हुआ[१] –

१. शौरसेनी से पश्चिमी हिन्दी, नागर अपभ्रंश से राजस्थानी, गुजराती पहाड़ी बोलियाँ।

२. पैशची अपभ्रंश से लहँदा और पंजाबी।

३. ब्राचड़ अपभ्रंश से सिन्धी।

४. महाराष्ट्री अपभ्रंश से मराठी।

५. अर्द्धमागधी अपभ्रंश से पूर्वी हिन्दी, और

६. मागधी अपभ्रंश से बिहारी, बंगाली, उड़िया और असमिया भाषाओं का विकास हुआ है।

---

१. हिन्दी भाषा, १९६६, पृ० ८५.

Jain Education International 2010_04 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जनभाषा-प्राकृत इस प्रकार इन विभिन्न स्तरों को पार करती हुई आधुनिक युगीन भारतीय भाषाओं तक पहुँची। समय और सुविधाओं के अनुसार उसमें परिवर्तन होते गये और नवीन भाषायें जन्म लेती गयीं। इसलिए देशकाल भेद से इन सभी प्राकृत भाषाओं की विशेषतायें भी पृथक्-पृथक् हो गईं। यहाँ उन विशेषताओं की ओर संकेत करना अप्रासंगिक होगा, पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि सरलीकरण की प्रवृत्ति इनमें विशेष दिखाई देती है। ऋ का अन्य स्वरों में बदल जाना, ऐ, औ के स्थान पर ए, ओ हो जाना, द्विवचन का लोप हो जाना, आत्मनेपद का रूप अदृश्य हो जाना, श और ष का प्राय: लोप हो जाना, (कहीं-कहीं ये सुरक्षित भी हैं), संयुक्त व्यञ्जनों में परिवर्तन हो जाना आदि कुछ ऐसी विशेषतायें हैं जो प्राय: सभी प्राकृत में मिल जाती हैं।

प्राकृत भाषा—जनभाषा को अपने सिद्धान्तों के प्रचार-प्रसार का माध्यम बनाने वालों में सर्वप्रथम भगवान् महावीर और बुद्ध के नाम लिये जा सकते हैं। ये सिद्धान्त जब लिपिबद्ध होने लगे तब तक स्वभावत: भाषा के प्रवाह में कुछ मोड़ आये और संकलित साहित्य उससे अप्रभावित नहीं रह सका। समकालीन अथवा उत्तरकालीन घटनाओं के समावेश में भी कोई एकमत नहीं रह सका। किसी ने सहमति दी और कोई उसकी स्थिति से सहमत नहीं हो सका। फलत: पाठान्तरों और मत-मतान्तरों का जन्म हुआ। भाषा और सिद्धान्तों के विकास की यही अमिट कहानी है। समूचे प्राकृत साहित्य का सर्वेक्षण करने पर यही तथ्य सामने आता है।

वर्तमान में उपलब्ध प्राकृत साहित्य २५०० वर्ष से पूर्व का ही माना जा सकता है, परन्तु उसके पूर्व अलिखित रूप में आगमिक साहित्य-परम्परा विद्यमान अवश्य रही होगी। प्राकृत भाषा का अधिकांश साहित्य जैनधर्म और संस्कृति से सम्बद्ध है। उसकी मूल परम्परा श्रुत, आर्ष अथवा आगम के नाम से व्यवहृत हुई है, जो एक लम्बे समय तक श्रुति परम्परा के माध्यम से सुरक्षित रही। संगीतियों अथवा वाचनाओं के माध्यम से यद्यपि इस आगम परम्परा का परीक्षण किया जाता रहा है पर समय और आवश्यकता के अनुसार चिन्तन के प्रवाह को रोका नहीं जा सका। फलत: उसमें हीनाधिकता होती रही है।

१. प्राकृत जैन साहित्य

प्राकृत जैन साहित्य के सन्दर्भ में जब हम विचार करते हैं तो हमारा ध्यान जैनधर्म के प्राचीन इतिहास की ओर चला जाता है, जो वैदिक काल किंवा उससे

Jain Education International 2010_04 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी प्राचीनतर माना जा सकता है। उस काल के प्राकृत जैन साहित्य को "पूर्व" संज्ञा से अभिहित किया गया है जिसकी संख्या चौदह है — उत्पादपूर्व, अग्रायणी, वीर्यानुवाद, अस्तिनास्तिप्रवाद, ज्ञानप्रवाद, सत्यप्रवाद, आत्मप्रवाद, कर्मप्रवाद, प्रत्याख्यान, विद्यानुवाद, कल्याणवाद, प्राणावाय, क्रियाविशाल और लोकविन्दुसार। आज जो साहित्य उपलब्ध है वह भगवान् महावीररूपी हिमाचल से निकली वाग्गंगा है, जिसमें अवगाहनकर गणधरों और आचार्यों ने विविध प्रकार के साहित्य की रचना की है।

परम्परागत साहित्य

उत्तरकाल में यह साहित्य दो परम्पराओं में विभक्त हो गया— दिगम्बर परम्परा और श्वेताम्बर परम्परा। दिगम्बर परम्परा के अनुसार जैन साहित्य दो प्रकार का है — अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य। अंगप्रविष्ट में बारह ग्रन्थों का समावेश है — आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञातृधर्मकथा, उपासकाध्ययन, अन्तःकृद्दशांग अनुत्तरोपपादिकदशांग, प्रश्नव्याकरण और दृष्टिवाद। दृष्टिवाद के पांच भेद किये गये हैं — परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका। पूर्वगत के ही उत्पाद आदि पूर्वोक्त चौदह भेद हैं। इन अंगों के आधार पर रचित ग्रन्थ अंगबाह्य कहलाते हैं जिनकी संख्या चौदह है — सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, वैनयिक, कृतिकर्म, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्पव्यवहार, कल्पाकल्प, महाकल्प, पुण्डरीक महापुण्डरीक और निषिद्धिका। दिगम्बर परम्परा इन अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य ग्रन्थों को विलुप्त हुआ मानती है। उसके अनुसार भगवान् महावीर के परिनिर्वाण के १६२ वर्ष पश्चात् अंगग्रन्थ क्रमशः विच्छिन्न होने लगे। मात्र दृष्टिवाद के अन्तर्गत आये द्वितीय पूर्व आग्रायणी के कुछ अधिकारों का ज्ञान आचार्य धरसेन के पास शेष था, जिसे उन्होंने आचार्य पुष्पदन्त और भूतबलि को दिया। उसी के आधार पर उन्होंने षट्खण्डागम जैसे विशालकाय ग्रन्थ का निर्माण किया। श्वेताम्बर परम्परा में ये अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य ग्रन्थ अभी भी उपलब्ध हैं। अंगबाह्य ग्रन्थों के सामायिक आदि प्रथम छह ग्रन्थों का अन्तर्भाव कल्प, व्यवहार और निशीथसूत्रों में हो गया।

अनुयोग साहित्य

अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य ग्रन्थों के आधार पर जो ग्रन्थ लिखे गये उन्हें चार विभागों में विभाजित किया गया है — प्रथमानुयोग, करणानुयोग, द्रव्यानुयोग और चरणानुयोग। प्रथमानुयोग में ऐसे ग्रन्थों का समावेश होता है जिनमें पुराणों, चरितों और आख्यायिकाओं के माध्यम से सैद्धान्तिक तत्व प्रस्तुत किये जाते

Jain Education International 2010_04 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं। करणानुयोग में ज्योतिष और गणित के साथ ही लोकों, सागरों, द्वीपों, पर्वतों और नदियों आदि का विस्तृत वर्णन मिलता है। सूर्यप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति आदि ग्रन्थ इस विभाग के अन्तर्गत आते हैं। जिन ग्रन्थों में जीव, कर्म, नय, स्याद्वाद आदि दार्शनिक सिद्धान्तों पर विचार किया गया है, वे द्रव्यानुयोग की सीमा में आते हैं। ऐसे ग्रन्थों में षट्खण्डागम, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय आदि ग्रन्थों का समावेश होता है। चरणानुयोग में मुनियों और गृहस्थों के नियमोपनियमों का विधान रहता है। कुन्दकुन्दाचार्य के प्रवचनसार, नियमसार, रयणसार, वट्टकेर का मूलाचार, शिवार्य की भगवती आराधना आदि ग्रन्थ इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं।

वाचनाएँ

प्राचीन काल में श्रुति परम्परा ही एक ऐसा माध्यम था जो हर सम्प्रदाय के आगमों को सुरक्षित रखा करता था। समय और परिस्थितियों के अनुसार चिन्तन की विभिन्न धाराएँ उसमें संयोजित होती जाती थीं। संगीतियों अथवा वाचनाओं के माध्यम से यद्यपि इन आगमों का परीक्षण कर लिया जाता था फिर भी चिन्तन के प्रवाह को रोकना सरल नहीं होता था।

i) पाटलिपुत्र वाचना

भगवान् महावीर के श्रुतोपदेश को भी इसी प्रकार की श्रुति परम्परा से सुरक्षित करने का प्रयत्न किया गया। सम्पूर्ण श्रुत के ज्ञाता निर्युक्तिकार भद्रबाहु से भिन्न आचार्य भद्रबाहु थे जिन्हें श्रुतकेवली कहा गया है। भगवान् महावीर के परिनिर्वाण के लगभग १५० वर्ष बाद तित्थोगालीपइन्ना के अनुसार उत्तर भारत में एक द्वादशवर्षीय दुर्भिक्ष पड़ा जिसके परिणामस्वरूप संघभेद का सूत्रपात हुआ। दुर्भिक्ष काल में अस्त-व्यस्त हुए श्रुतज्ञान को व्यवस्थित करने के लिए थोड़े समय बाद ही लगभग १६२ वर्ष बाद पाटलिपुत्र में एक संगीति अथवा वाचना हुई जिसमें ग्यारह अंगों को व्यवस्थित किया जा सका। बारहवें अंग दृष्टिवाद के ज्ञाता मात्र भद्रबाहु थे जो बारह वर्ष की महाप्राण नामक योगसाधना के लिए नेपाल चले गये थे। संघ की ओर से उसके अध्ययन के लिए कुछ साधुओं को उनके पास भेजा गया, जिनमें स्थूलभद्र ही सक्षम ग्राहक सिद्ध हो सके। वे मात्र दश पूर्वों का अध्ययन कर सके और शेष चार पूर्व उन्हें वाचनाभेद से मिल सके, अर्थतः नहीं।[१] धीरे-धीरे काल प्रभाव से दशपूर्वों का भी लोप होता गया।

१. तित्थोगाली, ८०१-२.

Jain Education International 2010_04 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दिगम्बर परम्परा के अनुसार महावीर के निर्वाण के ३४५ वर्ष बाद दशपूर्वों का विच्छेद हुआ। अन्तिम दशपूर्व ज्ञानधारी-धर्मसेन थे। श्वेताम्बर परम्परा भी इस घटना को स्वीकार करती है, पर महावीर निर्वाण के ५८४ वर्ष बाद। उसके अनुसार दशपूर्वज्ञान के धारी अन्तिम आचार्य वज्र थे। श्रुतिलोप का क्रम बढ़ता ही गया। दशपूर्वों के विच्छेद हो जाने के बाद विशेष पाठियों का भी विच्छेद हो गया। दिगम्बर परम्परा इस घटना को महावीर निर्वाण के ६८३ वर्षों के बाद घटित मानती है पर श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार आर्यवज्र के बाद १३ वर्षों तक आर्यरक्षित युगप्रधान आचार्य रहे। वे साढ़े नव पूर्वों के ज्ञाता थे। उन्होंने विशेष पाठियों का क्रमशः ह्रास देखकर उसे चार अनुयोगों में विभक्त कर दिया। फिर भी पूर्वों के लोप को बचाया नहीं जा सका।

ii) माथुरी वाचना

पाटलिपुत्र की प्रथम वाचना के पश्चात् दो दुर्भिक्ष और पड़े-प्रथम महावीर निर्वाण के २९१ वर्ष बाद, आर्यसुहस्ति सूरि के समय, सम्प्रति के राज्यकाल में और द्वितीय ८२७ वर्ष बाद आर्य स्कन्दिल और वज्रस्वामी के समय। इन दुर्भिक्षों के कारण अस्त-व्यस्त हुई आगम परम्परा को व्यवस्थित करने के लिए आर्य स्कन्दिल के नेतृत्व में मथुरा में एक वाचना बुलाई गई।[१] इसी समय हुई एक अन्य वाचना का भी उल्लेख मिलता है जो आचार्य नागार्जुन के नेतृत्व में बलभी में आयोजित की गई थी।[२] मलयगिरि के अनुसार अनुयोगद्वार और ज्योतिष्करण्डक इसी वाचना के आधार पर संकलित हुए हैं।

वलभी वाचना

माथुरी और वलभी वाचना के पश्चात् लगभग १५० वर्ष बाद पुनः वलभी में आचार्य देवर्धिगणि क्षमाश्रमण के नेतृत्व में परिषद् की संयोजना की गई और उसमें उपलब्ध आगम साहित्य को लिपिबद्ध किया गया। यह संयोजना महावीर के परिनिर्वाण के ९८० वर्ष बाद (सन् ४५३ ई०) हुई। श्वेताम्बर परम्परा द्वारा मान्य आगम इसी परिषद् का परिणाम है। इसमें संघ के आग्रह से विच्छिन्न होने से अवशिष्ट रहे, परिवर्तित और परिवर्धित, त्रुटित और अत्रुटित तथा स्वमति

---

१. श्वेताम्बर परम्परा इस घटना को महावीर निर्वाण के १७० वर्ष बाद मानती है और दिगम्बर परम्परा १६२ वर्ष बाद।

२. कहावली, २९८; कल्याणविजय मुनि— वी०नि०सं० और जैन कालगणना, पृ० १०४-१७

Jain Education International 2010_04 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से कल्पित आगमों को अपनी इच्छानुसार पुस्तकारूढ़ किया गया ..... श्री संघाग्रहात् ..... विच्छिन्नावशिष्टान् न्यूनाधिकान् त्रुटितात्रुटितान् आगमालोपकान् अनुक्रमेण स्वमत्या संकलय्य पुस्तकारूढ़ान कृता:। ततो मूलतो गणधरभाषितानामपि तत्संकलनानन्तरं सर्वेषामपि आगमान् कर्ता श्री देवर्धिगणि क्षमाश्रमण एव जात:।[१] पुनरुक्तियों को दूर करने की दृष्टि से बीच-बीच में अन्य आगमों का भी निर्देश किया गया। देवर्धिगणि ने इसी समय नन्दिसूत्र की रचना की तथा पाठान्तरों को चूर्णियों में संगृहीत किया। कल्याणविजय जी के अनुसार वलभी वाचना के प्रमुख नागार्जुन थे। उन्होंने इस वाचना को पुस्तक लेखन कहकर अभिहित किया है। सम्पादन की दृष्टि से चूर्णियाँ आदि बहुत उपयोगी हैं।

दिगम्बर परम्परा में उक्त वाचनाओं का कोई उल्लेख नहीं मिलता। इसका मूल कारण यह प्रतीत होता है कि श्वेताम्बर परम्परा के समान दिगम्बर परम्परा में अंगज्ञान ने कभी सामाजिक रूप नहीं लिया। वहां तो वह गुरु-शिष्य परम्परा से प्रवाहित होता हुआ माना गया है।[२] वस्तुत: वह वाचनिक परम्परा बौद्धों की संगीति परम्परा की अनुकृति मात्र है। वाचनाओं के कारण आगम सुरक्षित रह सके, अन्यथा वे और भी विकृत हो जाते।

श्रुत की मौलिकता

उपर्युक्त वाचनाओं के माध्यम से श्वेताम्बर परम्परा ने दृष्टिवाद को छोड़कर समूचे आगम साहित्य को सुव्यवस्थित करने का यथाशक्य प्रयत्न किया। परन्तु दिगम्बर परम्परा इसे स्वीकार नहीं करती। उसकी दृष्टि में तो लगभग सम्पूर्ण आगम साहित्य क्रमश: लुप्त होता गया। जो आंशिक ज्ञान सुरक्षित रहा उसी के आधार पर षट्खण्डागम आदि ग्रन्थों की रचना की गई। पर इसे भी हम बिलकुल सत्य नहीं कह सकते। यह अधिक सम्भव है कि श्रुतागमों में किये गये परिवर्तनों को लक्ष्यकर दिगम्बर परम्परा ने उन्हें 'लुप्त' कह दिया हो और संघर्ष के क्षेत्र से दूर हो गये हों। डॉ० विण्टरनित्स[३] भी समूचे आगमों को प्राचीन नहीं स्वीकारते। लगभग एक हजार वर्षों के बीच परिवर्तन-परिवर्धन होना स्वाभाविक है। बेचरदास दोसी ने मूलागम और उपलब्ध आगम में अन्तर स्पष्ट करते हुए लिखा है कि बलभी में संगृहीत अंग साहित्य की स्थिति के साथ

---

१. समय सुन्दरगणीरचित समाचारी शतक.

२. जैन साहित्य का इतिहास : पूर्व पीठिका, पृ० ५४३.

३. हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर, भाग २, पृ० ४३१-४३४.

Jain Education International 2010_04 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भगवान् महावीर के समय के अंग साहित्य की तुलना करने वाले को दो सौतेले भाइयों के बीच जितना अन्तर होता है उतना अन्तर-भेद मालूम होना सर्वथा सम्भव हो।[१] वर्तमान में उपलब्ध आगमों में अचेलकता को स्थान-स्थान पर उपादेय और श्रद्धास्पद माना है तथा सचेलकता को भाव की प्रधानता का तर्क देकर स्वीकार किया गया है। डॉ० जैकोबी और वेबर भी आगमों में परिवर्तन-परिवर्धन को स्वीकार करते हैं। यह इससे भी स्पष्ट है कि भगवती आराधना आदि ग्रन्थों में जो उदाहरण आगमों से दिये गये हैं वे आज उपलब्ध आगमों में अप्राप्य हैं।

जो भी हो, यह निश्चित है कि महावीर निर्वाण के एक हजार वर्ष बाद जो ये आगम संकलित किये गये, उनमें परिवर्तन-परिवर्धन अवश्य हुए हैं। स्थानांग, समवायांग, भगवतीसूत्र, उत्तराध्ययन आदि ग्रन्थों में वर्णित कुछ विषय स्पष्टत: उत्तरकालीन प्रतीत होते हैं।[२] उनका अन्त: - बाह्य परीक्षण कर समय निर्धारण करना अत्यावश्यक है। आगमों में "अट्ठे पण्णत्ते", "सुयं मे आउसं तेण भगवया एवमत्थं" आदि जैसे शब्द भी परिवर्तन-परिवर्धन के सूचक हैं। दिगम्बर परम्परा उपलब्ध इन आगमों को उनके मौलिक रूप में स्वीकार कर लेती तो आज आगमों का एक निखरा रूप सामने रहा होता।

प्राकृत साहित्य का वर्गीकरण

दिगम्बर परम्परा में परम्परागत शास्त्रों के लिए प्राय: 'श्रुत' और श्वेताम्बर परम्परा में 'आगम' शब्द का प्रयोग हुआ है। श्रुत का अर्थ है वे शास्त्र जिन्हें गणधर तीर्थङ्करों से सुनकर रचना करते हैं और 'आगम' का अर्थ है परम्परा से आया हुआ। दोनों शब्दों का तात्पर्य लगभग समान है इसलिए कहीं-कहीं दोनों परम्परायें इन दोनों शब्दों का उपयोग करती हुई भी दिखाई देती हैं। इसी सन्दर्भ में अंग, परमागम, सूत्र, सिद्धान्त आदि शब्दों का भी प्रयोग मिलता है। बौद्ध त्रिपिटक के समान जैनागम को भी आचार्यों ने 'गणिपिटक' कहा है।[३] इन श्रुत अथवा आगमों के विषय का प्रतिपादन भगवान् महावीर ने किया और उसे गौतम गणधर ने यथारीति ग्रन्थों में निबद्ध किया।

यहाँ हम सुविधा की दृष्टि से प्राकृत जैन साहित्य को निम्न भागों में विभक्त

---

१. जैन साहित्य में विकार, पृ० २३.

२. जैन साहित्य का इतिहास, पूर्वपीठिका, पृ० ५४३.

३. भगवती सत्र. २५३.

Jain Education International 2010_04 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर सकते हैं —

(i) आगम साहित्य

(ii) आगमिक व्याख्या साहित्य

(iii) कर्मसाहित्य

(iv) सिद्धान्त साहित्य

(v) आचार साहित्य

(vi) विधि-विधान और भक्ति साहित्य

(vii) कथा साहित्य, और

(viii) लाक्षणिक साहित्य।

१. आगम साहित्य

प्राकृत जैनागम साहित्य की दो परम्पराओं से हम सुपरिचित है ही। दिगम्ब परम्परा तो उसे लुप्त मानती है, परन्तु श्वेताम्बर परम्परा में उसे अंग, उपांग मूलसूत्र, छेदसूत्र और प्रकीर्णक के रूप में विभक्त किया गया है। उनका संक्षि परिचय इस प्रकार है। इन द्वादशांगों की रचना पूर्व ग्रन्थ परम्परा पर आधारि रही है।

अंग साहित्य

अंग साहित्य के पूर्वोक्त बारह भेद हैं जिनके कुल पदों का योग ४१५०२०८ है। इनकी उल्लिखित विषय सामग्री और उपलब्ध विषय सामग्री में ब अन्तर है।[१]

१. आचारांग

यह दो श्रुतस्कन्धों में विभक्त है। प्रथम श्रुतस्कन्ध में सत्थ परिण्णा अ नौ अध्ययन हैं और द्वितीय श्रुतस्कन्ध में पांच। प्रथम श्रुतस्कन्ध में पाणिप साधुओं का कोई उल्लेख भले ही न हो पर उसका झुकाव अचेलकता की अ अवश्य है। अतः यह भाग प्राचीनतर है। पाणिपात्री साधुओं के अस्तित्व उत्तरकालीन विकास का परिणाम भी नहीं कहा जा सकता। द्वितीय श्रुतस्क चूलिका के रूप में लिखा गया है जिनकी संख्या पांच है। चार चूलिकायें आचार

१. देखिये, भ, महावीर और उनका चिन्तन, डॉ॰ भागचन्द्र जैन, अध्याय :

Jain Education International 2010_04 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में और पञ्चम चूलिका विस्तृत होने के कारण पृथक् रूप में निशीथसूत्र' के नाम से निबद्ध है। यह भाग प्रथम श्रुतस्कन्ध के उत्तरकाल का है। इस ग्रन्थ में गद्य और पद्य, दोनों का प्रयोग हुआ है। इसमें मुनियों के आचार-विचार का विशेष वर्णन है। महावीर की चर्या का भी विस्तृत उल्लेख हुआ है। निर्युक्तिकार की दृष्टि से द्वितीय श्रुतस्कन्ध स्थविरकृत है। महावीर का जीवन भी यहाँ चमत्कारात्मक ढंग से मिलता है।

२. सूयगडंग

इसमें स्वसमय और परसमय का विवेचन है। इसे दो श्रुतस्कन्धों में विभक्त किया गया है। प्रथम श्रुतस्कन्ध में १६ अध्ययन हैं — समय, वेयालिय, उपसर्ग, स्त्रीपरिज्ञा, नरकविभक्ति, वीरस्तव, कुशील, वीर्य, धर्म, समाधि, मार्ग, समवशरण, यथातथ्य, ग्रन्थ आदान, गाथा और ब्राह्मण-श्रमण निर्ग्रन्थ। द्वितीय श्रुतस्कन्ध में सात अध्ययन हैं — पुण्डरीक, क्रियास्थान, आहारपरिज्ञा, प्रत्याख्यानक्रिया, आचारश्रुत, आर्द्रकीय तथा नालन्दीय। प्रथम श्रुतस्कन्ध के विषय को ही यहाँ विस्तार से कहा गया है। अत: निर्युक्तिकार ने इसे "महा अध्ययन" की संज्ञा दी है। इस ग्रन्थ में मूलत: क्रियावाद, अक्रियावाद, नियतिवाद, अज्ञानवाद आदि मतों का प्रस्थापन और उसका खण्डन किया गया है। यह ग्रन्थ खण्डन-मण्डन परम्परा से जुड़ा हुआ है।

३. ठाणांग

इसमें दस अध्ययन हैं और ७८३ सूत्र हैं जिनमें अंगुत्तरनिकाय के समान एक से लेकर दस संख्या तक संख्याक्रम के अनुसार जैन सिद्धान्त पर आधारित वस्तु संस्थाओं का विवरण प्रस्तुत किया गया है। यहाँ भगवान् महावीर की उत्तरकालीन परम्पराओं को भी स्थान मिला है। जैसे नवें अध्ययन के तृतीय उद्देशक में महावीर के ९ गणों का उल्लेख है। सात निह्नवों का भी यहाँ उल्लेख मिलता है — जमालि, तिष्यगुप्त, आषाढ़, अश्वमित्र, गंग, रोहगुप्त और गोष्ठामाहिल। इनमें प्रथम दो के अतिरिक्त सभी निह्नवों की उत्पत्ति महावीर के बाद ही हुई। प्रव्रज्या, स्थविर, लेखन- पद्धति आदि से सम्बद्ध सामग्री की दृष्टि से यह ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण है। इसका समय लगभग चतुर्थ-पंचम ई० शती निश्चित की जा सकती है।

४. समवायांग

इसमें कुल २७५ सूत्र हैं जिनमें ठाणांग के समान संख्याक्रम से निश्चित वस्तुओं का निरूपण किया गया है। यद्यपि यहां कोई क्रम तो नहीं पर उसी

Jain Education International 2010_04 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का आधार लेकर संख्याक्रम सहस्र और कोटाकोटि तक पहुँची है। ठाणांग के समान यहाँ भी महावीर के बाद की घटनाओं का उल्लेख मिलता है। उदाहरणत: १००वें सूत्र में गणधर इन्द्रभूति और सुधर्मा के निर्वाण से सम्बद्ध घटना। ठाणांग और समवायांग की एक विशिष्ट शैली है, जिसके कारण इनके प्रकरणों में एकसूत्रता के स्थान पर विषयवैविध्य अधिक दिखाई देता है। इसमें भौगोलिक और सांस्कृतिक सामग्री भरी हुई है। इनकी शैली अंगुत्तरनिकाय और पुग्गलपण्णत्ति की शैली से मिलती-जुलती है।

५. वियाहपण्णत्ति

ग्रन्थ की विशालता और उपयोगिता के कारण इसे 'भगवतीसूत्र' भी कह जाता है। इसमें गणधर गौतम के ६००० प्रश्न और महावीर के उत्तर निबद्ध हैं। अधिकांश प्रश्न स्वर्ग, नरक, चन्द्र, सूर्य आदि से सम्बद्ध हैं। इसमें ४१ शतक हैं जिनमें ८३७ सूत्र हैं। प्रथम शतक अधिक महत्त्वपूर्ण है। आगे के शतक इसी की व्याख्या करते हुए दिखाई देते हैं। यहाँ मक्खलि गोसाल का विस्तृत चरित भी मिलता है। बुद्ध को छोड़कर पार्श्वनाथ और महावीर के समकालीन आचार्य और परिव्राजक, पार्श्वनाथ और महावीर का परम्पराभेद, स्वप्नप्रकार, जवणिज्ज (यापनीय) संघ, वैशाली में हुए दो महायुद्ध, वनस्पतिशास्त्र, जीव प्रकार आदि के विषय में यह ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण जानकारी देता है। इसमें देवर्धिगणि क्षमाश्रमण द्वारा रचित नन्दिसूत्र का भी उल्लेख है, जिससे स्पष्ट है कि इस महाग्रन्थ में महावीर के बाद की लगभग एक हजार वर्ष की परम्पराओं का संकलन है। इसकी विषय-सूची भी बड़ी लम्बी-चौड़ी है। इसमें गद्यसूत्र ५२९३ और पद्यसूत्र १६० हैं।

६. नायाधम्मकहाओ

इसमें भगवान् महावीर द्वारा उपादिष्ट लोकप्रचलित धर्मकथाओं का निबन्ध है, जिसमें संयम, तप, त्याग आदि का महत्त्व बताया गया है। इस ग्रन्थ में दो श्रुतस्कन्ध हैं। प्रथम श्रुतस्कन्ध में नीति कथाओं से सम्बद्ध उन्नीस अध्ययन हैं और द्वितीय श्रुतस्कन्ध के दस वर्गों में धर्मकथायें संकलित हैं। शैली रोचक और आकर्षक है। इसमें मेघकुमार, धन्ना और विजय चोर, सागरदत्त और जिनदत्त कच्छप और शृंगाल, शैलक मुनि और शुक परिव्राजक, तुम्ब, रोहणी, मल्लि, माकंदी, दुर्दर, अमात्य तेमलि, द्रौपदी, पुण्डरीक, कुण्डरीक, गजसुकुमाल, नन्दमणियार आदि की कथायें संकलित हैं। ये कथायें घटना प्रधान तथा नाटकीय तत्त्वों से आपूर हैं। सांस्कृतिक महत्त्व की सामग्री भी इसमें सन्निहित हैं।

Jain Education International 2010_04 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

७. उवासगदसाओ

इसमें दस अध्ययन हैं जिनमें क्रमश: आनन्द, कामदेव, चुलिनीप्रिय, सुरादेव, चुल्लशतक, कुण्डकौलिक, सद्दालपुत्र, महाशतक, नन्दिनीपिता और सालतियापिता इन दस उपासकों का चरित्र-चित्रण है। इन श्रावकों को पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत इन बारह अणुव्रतों का निरतिचार पूर्वक पालन करते हुए धर्मार्थ साधना में तत्पर बताया है। इसे आचारांग का परिपूरक ग्रन्थ कहा जा सकता है। गृहस्थाचार के विकास की दृष्टि से इसका विशेष महत्त्व है।

८. अंतगडदसाओ

इस अंग में ऐसे स्त्री-पुरुषों का वर्णन है जिन्होंने संसार का अन्त कर निर्वाण प्राप्त किया है। इसमें आठ वर्ग हैं। हर वर्ग किसी न किसी मुमुक्षु से सम्बद्ध है। यहाँ गौतम, समुद्र, सागर, गम्भीर, गजसुकुमाल, कृष्ण, पद्मावती, अर्जुनमाली, अतिमुक्त आदि महानुभावों का चरित्र-चित्रण उपलब्ध है। पौराणिक और चरितकाव्यों के लिए ये कथानक बीजभूत माने जा सकते हैं। इसका समय लगभग २-३री शती होना चाहिए।

९. अणुत्तरोववाइयदसाओ

इस ग्रन्थ में ऐसे महापुरुषों का वर्णन है जो अपने तप और संयम से अनुत्तर विमानों में उत्पन्न हुए और उसके बाद वे मुक्तिगामी होते हैं। यह अंग तीन वर्गों में विभक्त है। प्रथम वर्ग में २०, द्वितीय वर्ग में १३ और तृतीय वर्ग में १० अध्ययन हैं। जालि, महाजालि, अभयकुमार आदि दस राजकुमारों का प्रथम वर्ग में, दीर्घसेन, महासेन, सिंहसेन, आदि तेरह राजकुमारों का द्वितीय वर्ग में, और धन्यकुमार, रामपुत्र, वेहल्ल आदि दस राजकुमारों का भोगमय और तपोमय जीवन का चित्रण तृतीय वर्ग में मिलता है। यहां अनुत्तरोपपातिकों की अवस्था का वर्णन किया गया है।

१०. पण्हवागरणाइं

इसमें प्रश्नोत्तर के माध्यम से परसमय (जैनेतरमत) का खण्डन कर स्वसमय की स्थापना की है। इसके दो भाग हैं। प्रथम भाग में हिंसादिक पाप रूप आश्रवों का और द्वितीय भाग में अहिंसादि पांच व्रत रूप संवर द्वारों का वर्णन किया गया है। इसी सन्दर्भ में मन्त्र, तन्त्र और चामत्कारिक विद्याओं का भी वर्णन किया गया है। सम्भवत: यह ग्रन्थ उत्तरकालीन है।

Jain Education International 2010_04 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

११. विवागसुयं

इस ग्रन्थ में शुभाशुभ कर्मों का फल दिखाने के लिए बीस कथाओं का आलेखन किया गया है। इन कथाओं में मृगापुत्र नन्दिषेण आदि की जीवन गाथायें अशुभ कर्म के फल को और सुबाहु, भद्रनन्दी आदि की जीव गाथायें शुभकर्म के फल को व्यक्त करती हैं। वर्णनक्रम से पता चलता है कि यह ग्रन्थ भी उत्तरकालीन होना चाहिए।[१]

१२. दिट्ठिवाय

श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार यह ग्रन्थ लुप्त हो गया है, जबकि दिगम्बर परम्परा के षट्खण्डागम आदि आगमिक ग्रन्थ इसी के भेद-प्रभेदों पर आधारित हैं। समवायांग में इसके पांच विभाग किये गये हैं — परिकर्म, सूत्र, पूर्वगत, अनुयोग और चूलिका। इसमें विभिन्न दर्शनों की चर्चा रही होगी। पूर्वगत विभाग के उत्पादपूर्व आदि चौदह भेद हैं। अनुयोग भी दो प्रकार के हैं — प्रथमानुयोग और गण्डिकानुयोग। चूलिकायें कहीं बत्तीस और कहीं पांच बतायी गई हैं। उनका सम्बन्ध मन्त्र-तन्त्रादि से रहा होगा। वर्तमान में यह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। यह एक विशालकाय ग्रन्थ रहा होगा।

उपांग साहित्य

वैदिक अंगोपांगों के समान जैनागम के भी उपर्युक्त बारह अंगों के बारह उपांग माने जाते हैं। परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाय तो उपांगों के क्रम का अंगों के क्रम से कोई सम्बन्ध नहीं बैठता। लगभग १२वीं शती से पूर्व के ग्रन्थों में उपांगों का वर्णन भी नहीं आता। इसलिए इन्हें उत्तरकालीन माना जाना चाहिए। ये उपांग इस प्रकार हैं —

१. उववाइय

इसमें ४३ सूत्र हैं और उनमें साधकों का पुनर्जन्म कहाँ-कहाँ होता है, इसका वर्णन किया गया है। इसमें ७२ कलाओं और विभिन्न परिव्राजकों का वर्णन मिलता है।

२. रायपसेणिय

इस ग्रन्थ में २१७ सूत्र हैं। प्रथम भाग में सूर्याभदेव का वर्णन है और

---

१. विशेष देखिये, लेखक का ग्रन्थ भगवान् महावीर और उनका चिन्तन, पाथर्डी, १९७५.

Jain Education International 2010_04 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्वितीय भाग में केशी और प्रदेशी के बीच जीव-अजीव विषयक संवाद का वर्णन है। इसमें दर्शन, स्थापत्य, संगीत और नाट्यकला की विशिष्ट सामग्री सन्निहित है।

३. जीवाभिगम

इसमें ९ प्रकरण और २७२ सूत्र हैं, जिनमें जीव और अजीव के भेद-प्रभेदों का विस्तृत वर्णन किया गया है। टीकाकार मलयगिरि ने इसे ठाणांग का उपांग माना है। इसमें अस्त्र, वस्त्र, धातु, भवन आदि के प्रकार दिये गये हैं।

४. पण्णवणा

इस ग्रन्थ में ३४९ सूत्र हैं और उनमें जीव से सम्बन्ध रखने वाले ३६ पदों का प्रतिपादन है — प्रज्ञापना, स्थान, योनि, भाषा, कषाय, इन्द्रिय, लेश्या आदि। इसके कर्ता आर्य श्यामाचार्य हैं, जो महावीर परिनिर्वाण के ३७६ वर्ष बाद अवस्थित थे। इसे समवायांगसूत्र का उपांग माना गया है। वृक्ष, तृण, औषधियाँ, पंचेन्द्रियजीव, मनुष्य, साढ़े पच्चीस आर्य देशों आदि का वर्णन मिलता है।

५. सुरियपण्णत्ति

इस ग्रन्थ में २० पाहुड और १०८ सूत्र हैं, जिनमें सूर्य, चन्द्र और नक्षत्रों की गति आदि का वर्णन मिलता है। इस पर भद्रबाहु ने निर्युक्ति और मलयगिरि ने टीका लिखी है।

६. जम्बूदीवपण्णत्ति

यह ग्रन्थ दो भागों में विभाजित है — पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध। पूर्वार्द्ध में चार और उत्तरार्द्ध में तीन वक्षस्कार (परिच्छेद) हैं तथा कुल १७६ सूत्र हैं जिनमें जम्बूद्वीप, भरतक्षेत्र, नदी, पर्वत, कुलकर आदि का वर्णन है। यह नायाधम्मकहाओ का उपांग माना जाता है।

७. चन्दपण्णत्ति

इसमें बीस प्राभृत हैं और उनमें चन्द्र की गति आदि का विस्तृत विवेचन मिलता है। इसे उवासगदसाओ का उपांग माना जाता है।

८. निरयावलिया

निरयावलिया अथवा कप्पिया में दस अध्ययन हैं, जिनमें काल, सुकाल, महाकाल, कण्ठ, सुकण्ह महाकण्ह, वीरकण्ह, रामकण्ह, पिउसेणकण्ह और

Jain Education International 2010_04 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

महासेणकण्ह का वर्णन है।

९. कप्पावडिसिया

इसमें भी दस अध्ययन हैं, जिनमें पउम, महापउम, भद्द, सुभद्द, पउमभद्द पउमसेण, पउमगुम्म, नलिणिगुम्म, आणंद व नंदण का वर्णन है।

१०. पुप्फिया

इसमें भी दस अध्ययन हैं, जिनमें चंद, सूर, सुक्क, बहुपुत्तिया, पुन्नभद्द गणिभद्द, दत्त, सिव, बल और अणाढिय का वर्णन है।

११. पुप्फचूला

इसमें भी दस अध्ययन हैं — सिरि, हिरि, धिति, कित्ति, बुद्धि, लच्छी इलादेवी, सुरादेवी, रसदेवी और गन्धदेवी।

१२. वण्हिदसाओ

इसमें बारह अध्ययन हैं — निसढ़, माअनि, वह, वण्ह, पगता, जुत्ती दसरह, दढरह, महाधणू, सत्तधणू, दसधणू और सयधणू।

ये उपांग सांस्कृतिक दृष्टि से विशेष महत्त्व के हैं। आठवें उपांग से लेक बारहवें उपांग तक को समय रूप में 'निरयावलिओ' भी कहा गया है।

मूलसूत्र

डॉ० शुब्रिंग के अनुसार इनमें साधु जीवन के मूलभूत नियमों का उपदेश गर्भित है इसलिए इन्हें मूलसूत्र कहा जाता है। उपांगों के समान मूलसूत्रों क भी उल्लेख प्राचीन आगमों में नहीं मिलता। इनकी मूलसंख्या में भी मतभेद है; कोई इनकी संख्या तीन मानता है — उत्तराध्ययन, आवश्यक और दशवैकालिक और कुछ विद्वानों ने पिण्डनिर्युक्ति और ओघनिर्युक्ति को सम्मिलित कर उनकी संख्या चार कर दी है।

१. उत्तरज्झायण

भाषा और विषय की दृष्टि से यह सूत्र प्राचीन माना जाता है। इसकी तुलना पालि त्रिपिटक के सुत्तनिपात, धम्मपद आदि ग्रन्थों से की गई है। इसका अध्ययन आचारांगादि के अध्ययन के बाद किया जाता था। यह भी सम्भव है कि इसकी रचना उत्तरकाल में हुई हो। उत्तराध्ययन में ३६ अध्ययन है जिनमें नैतिक, सैद्धान्तिक और कथात्मक विषयों का समावेश किया गया है। इनमें कुछ जिनभाषित हैं,

Jain Education International 2010_04 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कुछ प्रत्येकबुद्धों द्वारा प्ररूपित हैं और कुछ संवाद रूप में कहे गये हैं।

२. आवस्सय

इसमें छः नित्य क्रियाओं का छः अध्यायों में वर्णन है — सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दन, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान।

३. दसवेयालिय

इसके रचयिता आर्यसम्भव हैं। उन्होंने इसकी रचना अपने पुत्र के लिए की थी। विकाल अर्थात् सन्ध्या में पढ़े जाने के कारण इसे दसवेयालिय कहा जाता है। यह दस अध्यायों में विभक्त है जिनमें मुनि आचार का वर्णन किया गया है।

४. पिण्डनिर्युक्ति

इसमें आठ अधिकार और ९७१ गाथायें हैं, जिनमें उद्गम, उत्पादन, एषणा आदि दोषों का प्ररूपण किया गया है। इसके रचयिता भद्रबाहु माने जाते हैं।

५. ओघनिर्युक्ति

इसमें ८११ गाथायें हैं, जिनमें प्रतिलेखन, पिण्ड, उपाधि-निरूपण, अनायतनवर्जन, प्रतिसेवना, आलोचना और विशुद्धि का निरूपण है।

छेदसूत्र

श्रमणधर्म के आचार-विचार को समझने की दृष्टि से छेदसूत्रों का विशिष्ट महत्त्व है इनमें उत्सर्ग (सामान्य विधान), अपवाद, दोष और प्रायश्चित्त विधानों का वर्णन किया गया है। छेदसूत्रों की संख्या ९ है — दसासुयक्खन्ध, बृहत्कल्प, ववहार, निसीह, महानिसीह और पंचकप्प अथवा जीतकप्प।

१. दसासुयक्खन्ध

दसासुयक्खन्ध अथवा आयारदसा में दस अध्ययन हैं। उनमें क्रमशः असमाधि के कारण शबलदोष (हस्तकर्म मैथुन आदि), आशातना (अवज्ञा), गणिसम्पदा, चित्तसमाधि, उपासक-प्रतिमा, भिक्षु-प्रतिमा, पर्यूषणाकल्प, मोहनीयस्थान और आयातिस्थान (निदान) का वर्णन मिलता है। महावीर के जीवनचरित की दृष्टि से भी यह ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण है। इसके रचयिता निर्युक्तिकार से भिन्न आचार्य भद्रबाहु माने जाते हैं।

Jain Education International 2010_04 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२. बृहत्कल्प

इसमें छः उद्देश हैं, जिनमें भिक्षु-भिक्षुणियों के निवास, विहार, आहार, आसन आदि से सम्बद्ध विविध नियमों का विधान किया गया है। इसके भी रचयिता भद्रबाहु माने गये हैं। यह ग्रन्थ गद्य में लिखा गया है।

३. ववहार

इसमें दस उद्देश और ३०० सूत्र हैं। उनमें आहार, विहार, वैयावृत्ति, साधु-साध्वी का पारस्परिक व्यवहार, गृहगमन, दीक्षाविधान आदि विषयों पर सांगोपांग चर्चा की गई है। इस ग्रन्थ के भी कर्ता भद्रबाहु माने गये हैं।

४. निसीह

इसमें बीस उद्देश और लगभग १५०० सूत्र हैं। इनमें गुरुमासिक, लघुमासिक और गुरुचातुर्मासिक प्रायश्चित्त से सम्बद्ध क्रियाओं का वर्णन है।

५. महानिसीह

इसमें छः अध्ययन है और दो चूलिकाएं हैं जिनमें लगभग ४५५४ श्लोक हैं। भाषा और विषय की दृष्टि से यह ग्रन्थ अधिक प्राचीन नहीं जान पड़ता। विनष्ट महानिसीथ को हरिभद्रसूरि ने संशोधित किया और सिद्धसेन तथा जिनदासगणि ने उसे मान्य किया। कर्मविपाक, तान्त्रिक प्रयोग, संघस्वरूप, आदि पर विस्तार से वहाँ चर्चा की गई है।

६. जीतकल्प

इसकी रचना जिनदासगणि क्षमाश्रमण ने १०३ गाथाओं में की है। इसमें आत्मा की विशुद्धि के लिए जीत अर्थात् प्रायश्चित्त का विधान है। इसमें आलोचना, प्रतिक्रमण, उभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, मूल, अनवस्थाप्य और पारांचिक भेदों का वर्णन किया गया है।

चूलिका सूत्र

चूलिकायें ग्रन्थ के परिशिष्ट के रूप में मानी गई हैं। इनमें ऐसे विषयों का समावेश किया गया है जिन्हें आचार्य अन्य किसी ग्रन्थ-प्रकार में सम्मिलित नहीं कर सके। नन्दी और अनुयोगद्वार की गणना चूलिकासूत्रों में की जाती है। ये सूत्र अपेक्षाकृत अर्वाचीन हैं। नन्दीसूत्र गद्य-पद्य में लिखा गया है। इसमें ९० गाथायें और ५९ गद्यसूत्र हैं। इसका कुल परिमाण लगभग ७०० श्लोक होगा। इसके रचयिता दूष्यगणि के शिष्य देववाचक माने जाते हैं, जो देवर्धिगणि क्षमाश्रमण

Jain Education International 2010_04 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

से भिन्न हैं। इसमें पंचज्ञानों का वर्णन विस्तार से किया गया है। स्थविरावली और श्रुतज्ञान के भेद-प्रभेद की दृष्टि से भी यह ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण है। अनुयोगद्वार में निक्षेप पद्धति से जैनधर्म के मूलभूत विषयों का व्याख्यान किया गया है। इसके रचयिता आर्यरक्षित माने जाते हैं। इसमें नय, निक्षेप, प्रमाण, अनुगम आदि का विस्तृत वर्णन है। ग्रन्थमान लगभग २००० श्लोक प्रमाण है, इसमें अधिकांशत: गद्य भाग है।

प्रकीर्णक

इस विभाग में ऐसे ग्रन्थ सम्मिलित किये गये हैं जिनकी रचना तीर्थङ्करों द्वारा प्रवेदित उपदेश के आधार पर आचार्यों ने की है। ऐसे आगमिक ग्रन्थों की संख्या लगभग १४००० मानी गई है, परन्तु बलभी वाचना के समय निम्नलिखित दस ग्रन्थों का ही समावेश किया गया है — चउसरण, आउरपच्चक्खाण, महापच्चक्खाण, भत्तपइण्णा, तंदुलवेयालिय, संथारक, गच्छायार, गणिविज्जा, देविंदथह, और मरणसमाहि। 'चउसरण' में ६३ गाथायें हैं, जिनमें अरिहन्त, सिद्ध, साधु एवं केवलिकथित धर्म को शरण माना गया है। इसे वीरभद्रकृत माना जाता है। 'आउरपच्चक्खाण' में वीरभद्र ने ७० गाथाओं में बालमरण और पण्डितमरण का व्याख्यान किया है। महापच्चक्खाण में १४२ गाथायें है, जिनमें व्रतों और आराधनाओं पर प्रकाश डाला गया है। 'भत्तपइण्णा' में १७२ गाथायें हैं, जिनमें वीरभद्र ने भक्तपरिज्ञा, इंगिनी और पादोपगमन रूप मरण भेदों के स्वरूप का विवेचन किया है। 'तंदुलवेयालिय' में १३९ गाथाएं है और उनमें गर्भावस्था, स्त्री स्वभाव तथा संसार का चित्रण किया गया है। 'संथारक' में १२३ गाथायें हैं जिनमें मृत्युशय्या का वर्णन है। 'गच्छायार' में १३० गाथायें है जिनमें गच्छ में रहने वाले साधु-सध्वियों के आचार का वर्णन है। 'गणिविज्जा' में ८० गाथायें है जिनमें दिवस, तिथि, नक्षत्र, करण, मुहूर्त आदि का वर्णन है। देविंदथह (३०७ गा.) में देवेन्द्र की स्तुति है। मरणसमाहि (६६३ गा.) में आराधना, आराधक, आलोचना, सल्लेखना क्षमायापन आदि पर विवेचन किया गया है।

इन प्रकीर्णकों के अतिरिक्त तित्थोगालिय, अजीवकप्प, सिद्धपाहुड, आराहण पहाआ, दीवसायरपण्णत्ति, जोइसकरंडव, अंगविज्जा, पिंडविसोहि, तिहिपइण्णग, सारावलि, पज्जंताराहणा, जीवविहत्ति, कवचपकरण और जोगिपाहुड ग्रन्थों को भी प्रकीर्णक श्रेणी में सम्मिलित किया जाता है।

आगमिक व्याख्या साहित्य

उपर्युक्त अर्धमागधी आगम साहित्य पर यथासमय निर्युक्ति भाष्य, चूर्णि,

Jain Education International 2010_04 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

टीका विवरण, वृत्ति, अवचूर्णी पंजिका एवं व्याख्या रूप में विपुल साहित्य की रचना हुई है। इनमें आचार्यों ने आगमगत दुर्बोध स्थलों को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। इस विद्या में निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि और टीका साहित्य विशेष उल्लेखनीय है।

निर्युक्ति साहित्य

जिस प्रकार यास्क ने वैदिक पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या के लिए निरुक्त की रचना की उसी प्रकार आचार्य भद्रबाहु (द्वितीय) ने आगमिक शब्दों की व्याख्या के लिए निर्युक्तियों का निर्माण किया। ये निर्युक्तियाँ निम्नलिखित दस ग्रन्थों पर लिखी गई हैं — आवश्यक, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, आचारांग, सूत्रकृतांग, दशाश्रुतस्कन्ध, बृहत्कल्प, व्यवहार, सूर्यप्रज्ञप्ति और ऋषिभाषित। इनमें अन्तिम दो निर्युक्तियाँ उपलब्ध नहीं। इन निर्युक्तियों की रचना प्राकृत पद्यों में हुई है। बीच-बीच में कथाओं और दृष्टान्तों को भी नियोजित किया गया है। सभी निर्युक्तियों की रचना निक्षेप पद्धति में हुई है। इस पद्धति में शब्दों के अप्रासंगिक अर्थों को छोड़कर प्रासंगिक अर्थों का निश्चय किया गया है।

'आवश्यकनिर्युक्ति' में छः अध्ययन हैं — सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान। इसमें सप्तनिह्नव तथा भगवान् ऋषभदेव और महावीर के चरित्र का आलेखन हुआ है। इस निर्युक्ति पर जिनभद्र, जिनदासगणि, हरिभद्र, कोट्याचार्य, मलयगिरि, मलधारी हेमचन्द्र, माणिक्यशेखर आदि आचार्यों ने व्याख्या ग्रन्थ लिखे। इसमें लगभग १६५० गाथायें हैं। 'दशवैकालिकनिर्युक्ति' (३४१ गा.) में देश, काल आदि शब्दों का निक्षेप पद्धति से विचार हुआ है। उत्तराध्ययननिर्युक्ति (६०७ गा.) में विविध धार्मिक और लौकिक कथाओं द्वारा सूत्रार्थ को स्पष्ट किया गया है। आचारांगनिर्युक्ति (३४७ गा.) में आचार, अंग, ब्रह्म, चरण आदि शब्दों का अर्थ निर्धारण किया गया है। सूत्रकृतांगनिर्युक्ति (२०५ गा.) में मतमतान्तरों का वर्णन है। दशाश्रुतस्कन्ध निर्युक्ति में समाधि, स्थान, दसश्रुत आदि का वर्णन है। यह निर्युक्ति बृहत्कल्पनिर्युक्ति (५५९ गा.) और व्यवहारनिर्युक्ति के समान अल्पमिश्रित अवस्था में उपलब्ध होती है। इनके अतिरिक्त पिण्डनिर्युक्ति, ओघनिर्युक्ति, पंचकल्पनिर्युक्ति, निशीथनिर्युक्ति और संसक्तनिर्युक्ति भी मिलती है। भाषाविज्ञान की दृष्टि से इन निर्युक्तियों का विशेष महत्त्व है।

भाष्य साहित्य

निर्युक्तियों में प्रच्छन्न गूढ़ विषय को स्पष्ट करने के लिए भाष्य लिखे गये।

Jain Education International 2010_04 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जिन आगम ग्रन्थों पर भाष्य मिलते हैं वे हैं — आवश्यक, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, बृहत्कल्प, पंचकल्प, व्यवहार, निशीथ, जीतकल्प, ओघनिर्युक्ति और पिण्डनिर्युक्ति। ये सभी भाष्य पद्यबद्ध प्राकृत में हैं। आवश्यकसूत्र पर तीन भाष्य मिलते हैं — मूलभाष्य, भाष्य और विशेषावश्यकभाष्य। "विशेषावश्यकभाष्य" आवश्यकसूत्र का प्रथम अध्ययन मात्र सामायिक पर लिखा गया है फिर भी उसमें ३६०३ गाथायें हैं। इसमें आचार्य जिनभद्र (लगभग वि०सं० ६५०-६६०) ने जैन ज्ञान और तत्त्वमीमांसा की दृष्टि से सामग्री को संकलित किया है। योग, मंगल, पंचज्ञान, सामायिक, निक्षेप, अनुयोग, गणधरवाद, आत्मा और कर्म, अष्टनिह्नव, प्रायश्चित्तविधान आदि का विस्तृत विवेचन मिलता है। जिनभद्र का ही दूसरा भाष्य 'जीतकल्प' (१०३ गा.) पर है। जिसमें प्रायश्चित्तों का वर्णन है। इसी पर एक स्वोपज्ञभाष्य (२६०६ गाथायें) भी मिलता है जिसमें बृहत्कल्प, लघुभाष्य, व्यवहारभाष्य, पंचकल्प, महाभाष्य, पिण्डनिर्युक्ति आदि की गाथायें शब्दशः उद्धृत हैं।

बृहत्कल्प लघुभाष्य के रचयिता संघदासगणि क्षमाश्रमण जिनभद्र के पूर्ववर्ती हैं जिन्होंने इसे छः उद्देशों और ६४९० गाथाओं में पूरा किया। इसमें जिनकल्पिक और स्थविरकल्पिक साधु-साध्वियों के आहार-विहार, निवास आदि का सूक्ष्म वर्णन किया गया है। सांस्कृतिक सामग्री से यह ग्रन्थ भरा हुआ है। इन्हीं आचार्य का पंचकल्पमहाभाष्य (२६६५ गा.) भी मिलता है। बृहत्कल्प लघुभाष्य के समान बृहत्कल्प बृहद्भाष्य भी लिखा गया है पर दुर्भाग्य से अभी तक वह अपूर्ण ही उपलब्ध हुआ है। इस सन्दर्भ में व्यवहारभाष्य (दस उद्देश), ओघनिर्युक्ति लघुभाष्य (३२२ गा.), ओघनिर्युक्ति बृहद्भाष्य (२५९७ गा.) और पिण्डनिर्युक्ति भाष्य (४६ गा.) भी उल्लेखनीय है।

चूर्णि साहित्य

आगम साहित्य पर निर्युक्तियों और भाष्यों के अतिरिक्त चूर्णियों की भी रचना हुई है। पर वे पद्य में न होकर गद्य में हैं और शुद्ध प्राकृत भाषा में न होकर प्राकृत-संस्कृत मिश्रित हैं। सामान्यतः यहाँ संस्कृत की अपेक्षा प्राकृत का प्रयोग अधिक हुआ है। चूर्णिकारों में जिनदासगणि महत्तर और सिद्धसेन सूरि अग्रगण्य हैं। जिनदासगणि महत्तर (लगभग वि०सं० ६५०-७५०) ने नन्दि, अनुयोगद्वार, आवश्यक, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, आचारांग, सूत्रकृतांग, बृहत्कल्प, व्याख्याप्रज्ञप्ति, निशीथ और दशाश्रुतस्कन्ध पर चूर्णियाँ लिखी हैं तथा जीतकल्प चूर्णि के कर्ता सिद्धसेन सूरि (वि०सं० १२२७) हैं। इनके अतिरिक्त

Jain Education International 2010_04 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जीवाभिगम, महानिशीथ, व्यवहार, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति आदि ग्रन्थों पर भी चूर्णियां लिखी गई हैं। इन चूर्णियों में सांस्कृतिक तथा कथात्मक सामग्री भरी हुई है।

टीका साहित्य

आगम को और भी स्पष्ट करने के लिए टीकायें लिखी गई हैं। इनकी भाषा प्रधानत: संस्कृत है पर कथा भाग अधिकांशत: प्राकृत में मिलता है। आवश्यक, दशवैकालिक, नन्दी और अनुयोगद्वार पर हरिभद्रसूरि (लगभग ७००-७७० ई०) की, आचारांग और सूत्रकृतांग पर शीलांकाचार्य (वि०सं० लगभग ९००-१०००) की, उत्तराध्ययन पर शिष्यहिता टीका शान्तिसूरि (११वीं शती) की तथा सुखबोधा टीका देवेन्द्रगणि अपरनाम नेमिचन्द्रसूरि की विशेष उल्लेखनीय हैं। संस्कृत टीकाओं, विवरणों और कृतियों की तो एक लम्बी संख्या है जिसका उल्लेख करना यहाँ अप्रासंगिक होगा।

कर्म साहित्य

पूर्वोक्त आगम साहित्य अर्धमागधी प्राकृत में लिखा गया है। इसे परम्परानुसार श्वेताम्बर सम्प्रदाय स्वीकार करता है परन्तु दिगम्बर सम्प्रदाय किन्हीं कारणोंवश उसे 'लुप्त' हुआ मानता है। उसके अनुसार लुप्त आगम का आंशिक ज्ञान मुनि परम्परा में सुरक्षित रहा। उसी के आधार पर आचार्य धरसेन के सान्निध्य में षट्खण्डागम की रचना हुई।

षट्खण्डागम 'दृष्टिवाद' नामक बारहवें अंग के अन्तर्गत अग्रायणी नामक द्वितीय पूर्व के चयनलब्धि नामक पाँचवें अधिकार के चतुर्थ पाहुड (प्राभृत) कर्म प्रकृति पर आधारित है। इसलिए इसे कर्मप्राभृत भी कहा जाता है। इसके प्रारम्भिक भाग सत्प्ररूपणा के रचयिता पुष्पदन्त हैं और शेष भाग को आचार्य भूतबलि ने रचा है। इनका समय महावीर निर्वाण के ६००-७०० वर्ष बाद माना जाता है।[१] सत्प्ररूपणा में १७७ सूत्र हैं। शेष ग्रन्थ ६००० सूत्रों में रचित कर्म प्राभृत के छ: खण्ड हैं— जीवट्ठाण (२३७५ सूत्र), खुद्दबन्ध (१५८२ सूत्र), बन्धसामित्तविचय (३२४ सूत्र), वेदना (१४४९ सूत्र), वग्गणा (९८२ सूत्र और महाबन्ध (सात अधिकार)। इनमें कर्म और उनकी विविध प्रकृतियों का विस्तृत विवेचन मिलता है। इस पर निम्नलिखित टीकायें रची गई हैं। इन टीकाओं में 'धवला' टीका को छोड़कर शेष सभी, अनुपलब्ध हैं। इनकी भाषा शौरसेनी प्राकृत है—

---

१. षट्खण्डागम पुस्तक १, प्रस्तावना, पृ० २१-३१.

Jain Education International 2010_04 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

i) प्रथम तीन खण्डों पर कुन्दकुन्दाचार्य की प्राकृत टीका (१२००० श्लोक प्रमाण)

ii) प्रथम पाँच खण्डों पर शास्त्रकुण्डकृत पद्धतिनामक प्राकृत-संस्कृत-कन्नड मिश्रित टीका (१२००० श्लोक प्रमाण)।

iii) छठे खण्ड पर तुम्बूलाचार्यकृत प्राकृत पञ्जिका (६०००० श्लोक प्रमाण

iv) वीरसेन (८१६ ई०) की प्राकृत-संस्कृत मिश्रित टीका (७२००० श्लोक प्रमाण)

दृष्टिवाद के ही ज्ञानप्रवाद नामक पाँचवें पूर्व की दसवीं वस्तु के पेज्जदोस नामक तृतीय प्राभृत से 'कषायप्राभृत' (कसाय पाहुड) की उत्पत्ति हुई। इसे 'पेज्जदोसपाहुड' भी कहा गया है। आचार्य गुणधर ने इसकी रचना भगवान् महावीर के परिनिर्वाण के ६८३ वर्ष बाद की। इसमें १६०० पद एवं १८० किंवा २३३ गाथायें और १५ अर्थाधिकार हैं। इस पर यतिवृषभ ने विक्रम की छठी शती में छः हजार श्लोक प्रमाण चूर्णिसूत्र रची। उस पर वीरसेन ने सन् ८७४ में बीस हजार श्लोक प्रमाण जयधवला टीका लिखी। इस अधूरी टीका को उनके शिष्य जयसेन (जिनसेन) ने चालीस हजार श्लोक प्रमाण टीका और लिखकर ग्रन्थ समाप्त किया। इनके अतिरिक्त उच्चारणाचार्यकृत उच्चारणवृत्ति, शामकुण्डकृत पद्धतिटीका, तुम्बूलाचार्यकृत चूड़ामणिव्याख्या तथा वप्पदेवगुरुकृत व्याख्याप्रज्ञप्तिवृत्ति नामक टीकाओं का उल्लेख मिलता है पर आज वे उपलब्ध नहीं हैं। इन सभी टीका ग्रन्थों में कर्म की विविध व्याख्या की गई है।

इन्हीं ग्रन्थों के आधार पर नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने विक्रम की ११वीं शती में 'गोमट्टसार' की रचना की। वे चामुण्डराय के गुरु थे जिन्हें गोमट्टराय भी कहा जाता था। गोमट्टसार के दो भाग हैं— जीवकाण्ड (७३३ गा०) और कर्मकाण्ड (९७२ गा०)। जीवकाण्ड में जीव, स्थान, क्षुद्रबन्ध, बन्धस्वामी और वेदना इन पाँच विषयों का विवेचन है। कर्मकाण्ड में कर्म के भेद-प्रभेदों की व्याख्या की गई है। इसी लेखक की 'लब्धिसार' (२६१ गा०) नामक एक और रचना मिलती है। लगभग आठवीं शती में लिखी किसी अज्ञात विद्वान् की 'पञ्चसंग्रह' (१३०९ गा०) नामक कृति भी उपलब्ध हुई है। इसमें कर्मस्तव आदि पाँच प्रकरण हैं। प्रायः ये सभी ग्रन्थ शौरसेनी प्राकृत में हैं। आचार्य कुन्दकुन्द, बट्टकेर और शिवार्य के साहित्य को इसमें और जोड़ दिया जाय तो यह समूचा साहित्य दिगम्बर सम्प्रदाय का आगम साहित्य कहा जा सकता है।

Jain Education International 2010_04 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त शिवशर्मसूरि (वि॰ की पाँचवीं शती) की कर्मप्रकृति (४७५ गा॰), उस पर किसी अज्ञात विद्वान् की सात हजार श्लोक प्रमाण चूर्णि, वीरशेखरविजय की ठिइबन्ध (८७६ गा॰) तथा खवगसेढी-और चन्दर्सि महत्तर का पञ्चसंग्रह (१००० गा॰) विशिष्ट कर्मग्रन्थ हैं। गर्गर्षि (वि॰ की १०वीं शती) का कम्मविवाग, अज्ञात कवि का कर्मस्तव और बन्धस्वामित्व, जिनवल्लभगणि की षडशीति, शिवशर्मसूरि का शतक और अज्ञात कवि की सप्ततिका ये प्राचीन षट् कर्मग्रन्थ कहे जाते हैं। जिनबल्लभगणि (वि॰ की १२वीं शती) का सार्धशतक (१५५ गा॰) भी स्मरणीय है। देवेन्द्रसूरि (१३वीं शती) के कर्मविपाक (६० गा॰), कर्मस्तव (३४ गा॰), बन्धस्वामित्व (२४ गा॰), षड्शीति (४६ गा॰) और शतक (१०० गा॰) इन पाँच ग्रन्थों को 'नव्यकर्मग्रन्थ' कहा जाता है। जिनभद्रगणि की विशेषणवति, विजयविमलगणि (वि॰सं॰ १६२३) का भावप्रकरण (३०गा॰), हर्षकुलगणि (१६वीं शती) का बन्धहेतूदयत्रिभंगी (६५ गा॰) और विजयविमलगणि (१७वीं शती) का बन्धोदयसत्ताप्रकरण (२४ गा॰) ग्रन्थ भी यहाँ उल्लेखनीय है।

सिद्धान्त साहित्य

कर्मसाहित्य के अतिरिक्त कुछ और ग्रन्थ हैं जिन्हें हम आगम के अन्तर्गत रख सकते हैं। इन ग्रन्थों के आचार्य कुन्दकुन्द (प्रथम शती) के पवयणसार (१७५ गा॰), समयसार (४१५ गा॰), नियमसार (१८७ गा॰), पंचत्थिकायसंगहसुत्त (१७३ गा॰), दंसणपाहुड (३६ गा॰), चारित्तपाहुड (४४ गा॰), सुत्तपाहुड (२७ गा॰), बोधपाहुड (६२ गा॰), भावपाहुड (१६६ गा॰), मोक्खपाहुड (१०६ गा॰), लिंगपाहुड (२२ गा॰) और सीलपाहुड (४० गा॰) प्रधान ग्रन्थ हैं। इनमें निश्चयनय की दृष्टि से आत्मा की विशुद्धावस्था को प्राप्त करने का मार्ग बताया गया है। इनकी भाषा शौरसेनी है।

अनेकान्त का सम्यक् विवेचन करने वालों में आचार्य सिद्धसेन (५-६ वीं शती) शीर्षस्थ हैं जिन्होंने 'सम्मइसुत्त' (१६७ गा॰) रचकर प्राकृत में दार्शनिक ग्रन्थ प्रणयन का मार्ग प्रशस्त किया। यह ग्रन्थ तीन खण्डों में विभक्त है—नय, उपयोग और अनेकान्तवाद। अभयदेव ने इस पर २५०० श्लोक प्रमाण तत्त्वबोधायिनी नामक टीका लिखी। इसकी भाषा महाराष्ट्री प्राकृत है। इसी प्रकार आचार्य देवसेन का लघुनयचन्द्र (६७ गा॰) और माइलधवल का वृहन्नयचक्र (४२३ गा॰) भी इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय ग्रन्थ हैं।

किसी अज्ञात कवि का जीवसमास (२८६ गा॰), शान्तिसूरि (११वीं शती)

Jain Education International 2010_04 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

का जीवविचार (५१ गा०), अभयदेवसूरि का पण्णवणातइयपयसंगहणी (१३३ गा०), अज्ञात कवि की जीवाजीवाभिगमसंगहणी (२२३ गा०), जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण का समयखित्तसमास (६३७ गा०), राजशेखरसूरि की क्षेत्रविचारणा (३६७ गा०), मिचन्द्रसूरि का पवयण सारोद्धार (१५९९ गा०), सोमतिलकसूरि (वि०सं० १३७३) का सत्तरिसय ठाणपयरण (३५९ गा०), देवसूरि का जीवाणुसासण ४२३ गा०) आदि रचनाओं में सप्त तत्त्वों का सांगोपांग विवेचन मिलता है।

धर्मोपदेशात्मक साहित्य भी प्राकृत में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है। जीवनसाधना की दृष्टि से यह साहित्य रचा गया है। धर्मदासगणी (लगभग ८वीं शती) की वएसमाला (५४२ गा०), हरिभद्रसूरि का उवएसपद (१०३९ गा०) व संबोहप्रकरण १५१० गा०), हेमचन्द्रसूरि की उवएसमाला (५०५ गा०) व भवभावणा (५३१ ा०), महेन्द्रप्रभसूरि (सं० १४३६) की उवएसचिंतामणि (४१५ गा०), जिनरत्नसूरि सन् १२३१) का विवेकविलास (१३२३ गा०), शुभवर्धनगणी (सं० १५५२) ा वद्धमाणदेसना (३१६३ गा०), जयवल्लभ का वज्जालग्गं (१३३० गा०) ादि ग्रन्थ मुख्य हैं। इन कृतियों में जैनधर्म, सिद्धान्त और तत्त्वों का उपदेश या गया है और आध्यात्मिक उन्नति की दृष्टि से व्रतादि का महत्त्व बताया गया ये सभी कृतियाँ जैन महाराष्ट्री प्राकृत में रची गई हैं। उत्तर पश्चिम के जैन हित्यकारों ने अर्धमागधी के बाद इसी भाषा को माध्यम बनाया। 'यश्रुति' इसकी शेषता है।

आचार्यों ने योग और बारह भावनाओं सम्बन्धी साहित्य भी प्राकृति में ा है। इसका अधिकांश साहित्य यद्यपि संस्कृत में मिलता है पर प्राकृत भी से अछूता नहीं रहा। हरिभद्रसूरि का झाणज्झयण (१०६ गा०) कुमार कार्तिकेय बारसानुवेक्खा (४८९ गा०), देवचन्द्र का गुणणट्ठाणसय (१०७ गा०), रत्नविजय का खवगसेढी (२७१ गा०) तथा वीरसेखरविजय का मूलपकइठिइबन्ध ७६ गा०) उल्लेखनीय हैं। इन ग्रन्थों में यम, नियम आदि के माध्यम से मार्ग-प्राप्ति को निर्दिष्ट किया गया है। प्राचीन भारतीय योगसाधना को किस र विशुद्ध आध्यात्मिक साधना का माध्यम बनाया जा सकता है इसका निदर्शन आचार्यों ने इन कृतियों में बड़ी सफलतापूर्वक किया है।

आचार साहित्य

आचार साहित्य में सागार और अनगार के व्रतों और नियमों का विधान ा है। वट्टकेर (लगभग ३री शती) का मूलाचार (१५५२ गा०), शिवार्य गभग ततीय शती) का भगवइ आराहणा (२१६६ गा०) और वसुनन्दी (१३वीं

Jain Education International 2010_04 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शती) का उवासयाज्झयणं (५४६ गा०) शौरसेनी प्राकृत में रचे कुछ विशिष्ट ग्रन्थ हैं जिनमें मुनियों और श्रावकों के आचार-विचार का विस्तृत वर्णन है।

इसी तरह हरिभद्रसूरि के पंचवत्थुग (१७१४ गा०), पंचासग (८५० गा०), सावयपण्णत्ति (४०५ गा०) और सावयधम्मविहि (१२० गा०), प्रद्युम्नसूरि की मूलसिद्धि (२५२ गा०), वीरभद्र (सं० १०७८) की आराहणापडाया (९९० गा०), देवेन्द्रसूरि की सड्ढदिणकिच्च (३४४ गा०) आदि जैन महाराष्ट्री में रचे गये प्रमुख ग्रन्थ हैं। इनमें मुनि और श्रावकों की दिनचर्या, नियम, उपनियम, दर्शन, प्रायश्चित आदि की व्यवस्था बतायी गई है। इन ग्रन्थों पर अनेक टीकायें भी मिलती हैं।

विधिविधान और भक्तिमूलक साहित्य

प्राकृत में ऐसा साहित्य भी उपलब्ध होता है जिसमें आचार्यों ने भक्ति, पूजा, प्रतिष्ठा, यज्ञ, मन्त्र, तन्त्र, पर्व, तीर्थ आदि का वर्णन किया गया है। कुन्दकुन्द की सिद्धभक्ति (१२ गा०) सुदभत्ति, चरित्तभत्ति (१० गा०), अणगारभत्ति (२३ गा०), आयरियभत्ति (१० गा०), पंचगुरुभत्ति (७ गा०), तित्थयरभत्ति (८ गा०) और निब्बाणभत्ति (२७ गा०) विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। यशोदेवसूरि का पच्चक्खाणसरूव (३२९ गा०), श्रीचन्द्रसूरि की अणुट्ठाणविहि, जिनवल्लभगणि की पडिक्कण समायारी (४० गा०), देवभद्र की पमसहविहिपयरण (१८८ गा० और जिनप्रभसूरि (वि०सं० १३६३) की विहिमग्गप्पवा (३५७५ गा०) इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय ग्रन्थ हैं। धनपाल का ऋषभपंचासिका (५० गा०), भद्रबाहु का उवसग्गहरस्थोत्त (२० गा०), नन्दिषेण का अजियसंतिथुयि, देवेन्द्रसूरि का शाश्वतचैत्यास्तव, धर्मघोषसूरि (१४वीं शती) का भवस्तोत्र, किसी अज्ञात कवि का निर्वाण काण्ड (२१ गा०) तथा योगेन्द्रदेव (छठी शती) का निजात्माष्टक प्रसिद्ध स्तोत्र हैं। इन स्तोत्रों में दार्शनिक सिद्धान्तों के साथ ही काव्यात्मक तत्त्व का विशेष ध्यान रखा गया है। रसात्मकता तो है ही।

पौराणिक और ऐतिहासिक काव्य साहित्य

जैनधर्म में ६३ शलाका महापुरुष हुए हैं जिनका जीवन चरित कवियों ने अपनी लेखनी में उतारा है। इन काव्यों का स्रोत आगम साहित्य है। इन प्रबन्ध काव्य की कोटि में रखा जा सकता है। इनमें कवियों ने धर्मोपदेश, कर्मफल, अवान्तर कथायें, स्तुति, दर्शन, काव्य और संस्कृति को समाहित किया है। साधारणतः ये सभी काव्य शान्तरसानुवर्ती हैं। इनमें महाकाव्य के प्रायः सभी लक्षण घटित होते हैं। लोकतत्त्वों का भी समावेश यहाँ हुआ है।

Jain Education International 2010_04 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

पउमचरिय (८३५१ गा०) पौराणिक महाकाव्यों में प्राचीनतम कृति है जिसकी रचना विमलसूरि ने वि०सं० ५३० में की। कवि ने यहाँ रामचरित को यथार्थवादिता की भूमिका पर खड़े होकर रचा है। उसमें उन्होंने अतार्किक और अनर्गल बातों को स्थान नहीं दिया। सभी प्रकार के गुण, अलंकार, रस और छन्दों का भी उपयोग किया गया है। गुप्त-वाकाटक युग की संस्कृति भी इसमें पर्याप्त मिलती है। महाराष्ट्री प्राकृत का परिमार्जित रूप यहाँ विद्यमान है। कहीं-कहीं अपभ्रंश का भी प्रभाव दिखाई देता है। इसी तरह भुवनतुंगसूरि का सीताचरित (४६५ गा०) भी उल्लेखनीय है।

सम्भवत: शीलांकाचार्य से भिन्न शीलाचार्य (वि०सं० ९२५) का चउप्पन्नमहापुरिसचरिय (१०८०० श्लोक प्रमाण), भद्रेश्वरसूरि (१२वीं शती), तथा आम्रकवि (१०वीं शती) का चउप्पन्नमहापुरिसचरिय (१०३ अधिकार), सोमप्रभाचार्य (सं० १९९९) का सुमईनाहचरिय (९६२१ श्लोक प्रमाण), लक्ष्मणगणि (सं० ११९९) का सुपासनाहचरिय (८००० गा०), नेमिचन्द्रसूरि (सं० १२१६) का सुपासनाहचरिय (१२०० गा०), श्रीचन्द्रसूरि (सं० ११९१) का मुनिसुब्बयसामिचरिय (१०९९४ गा०) तथा गुणचन्द्रसूरि (सं० ११३९) और नेमिचन्द्रसूरि (१२वीं शती) के महावीरचरिय (क्रमश: १२०२५ और २३८५ श्लोक प्रमाण) काव्य विशेष उल्लेखनीय हैं। ये ग्रन्थ प्राय: पद्यबद्ध हैं। कथावस्तु की सजीवता व चरित्र चित्रण की मार्मिकता यहाँ स्पष्टत: दिखाई देती है।

द्वादश चक्रवर्तियों तथा अन्य शलाका पुरुषों पर भी प्राकृत रचनायें उपलब्ध हैं। श्रीचन्द्रसूरि (सं० १२१४) का सणतकुमारचरिय (८१२७ श्लोक प्रमाण), संघदासगणि और धर्मदासगणि (लगभग ५वीं शती) का वसुदेवहिण्डी (दो खण्ड) तथा गुणपालमुनि का जम्बूचरिय (१६ उद्देश) इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय ग्रन्थ हैं। इन काव्यों में जैनधर्म, इतिहास और संस्कृति पर प्रकाश डालने वाले अनेक स्थल हैं।

भगवान् महावीर के बाद होने वाले अन्य आचार्यों और साधकों पर भी प्राकृत काव्य रचे गये हैं। तिलकसूरि (सं० १२६१) का प्रत्येकबुद्धचरित (६०५० श्लोक प्रमाण) उनमें प्रमुख है। इसके अतिरिक्त कुछ और पौराणिक काव्य मिलते हैं जो आचार्यों के चरित पर आधारित हैं जैसे हेमचन्द्र आदि की कालकाचार्य कथा।

जैनाचार्यों ने ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर कतिपय प्राकृत काव्य भी

Jain Education International 2010_04 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

रचे हैं। कहीं राजा, मन्त्री, अथवा श्रेष्ठी नायक हैं तो कहीं सन्त-महात्मा के जीवन को काव्य के लिए चुना गया है। उनकी दिविजय, संघ-यात्रायें तथा अन्य प्रासंगिक वर्णनों में अतिशयोक्तियाँ भी झलकती हैं। वहाँ काल्पनिक चित्रण भी उभरकर सामने आये हैं। ऐसे स्थलों पर इतिहासवेत्ता को पूरी सावधानी के साथ सामग्री का चयन करना अपेक्षित है। हेमचन्द्रसूरि का द्वाश्रयमहाकाव्य चौलुक्यवंशीय नरेश कुमारपाल के चरित का ऐसा ही चित्रण करता है। इस ग्रन्थ को पढ़कर भट्टिकाव्य, राजतरंगिणी तथा विक्रमांकदेवचरित जैसे ग्रन्थ स्मृति-पथ में आने लगते हैं।

इतिहास के निर्माण में प्रशस्तियों और अभिलेखों का भी महत्त्व होता है। श्रीचन्द्रसूरि के मुनिसुव्वयसामिचरिय (सं० ११९३) की १०० गाथाओंकी प्रशस्ति में संघ, शाकम्भरी नरेश पृथ्वीराज, सौराष्ट्र नरेश खेंगार आदि का वर्णन है। साहित्य जहाँ मौन हो जाता है वहाँ अभिलेख के रूप में बारली (अजमेर से ३२ मील दूर) में प्राप्त पाषाणस्तम्भ पर खुदी चार पंक्तियाँ हैं जिनमें वीरनिर्वाण संवत् ८४ उत्कीर्ण है। अशोक के लेख इसके बाद के हैं। उनमें भी प्राकृत के विविध रूप दिखाई देते है। सम्राट् खारवेल का हाथी गुम्फा शिलालेख, मथुरा और प्रभोसा से प्राप्त शिलालेख तथा घटियाला (जोधपुर) का शिलालेख (सं० ९१८) इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय हैं। मूर्ति लेख भी प्राकृत में मिलते हैं।

नाटकों का समावेश दृश्यकाव्य के रूप में होता है। इसमें संवाद, संगीत, नृत्य और अभिनय संनिहित होता है। संस्कृत नाटकों में साधारणतः स्त्रियाँ, विदूषक तथा निम्नवर्ग के किंकर, धूर्त, विट, भूत, पिशाच आदि अधिकांश पात्र प्राकृत ही बोलते हैं। पूर्णतया प्राकृत में लिखा नाटक अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ। नेमचन्द्रसूरि की सट्टककृति नयमंजरी अवश्य मिली है जो कर्पूरमञ्जरी के अनुकरण पर रची गई है। इनमें प्राकृत के नाटकों और सट्टकों के विविध रूप देखने को मिलते हैं।

कथा साहित्य

जैनाचार्यों ने प्राकृत भाषा में विपुल कथा साहित्य का निर्माण किया है। उनका मुख्य उद्देश्य कर्म, दर्शन, संयम, तप, चारित्र, दान आदि के महत्त्व को स्पष्ट करना रहा है। आगम साहित्य इन कथाओं का मूल स्रोत है। आधुनिक कथाओं के समान यहाँ वस्तु, पात्र, संवाद, देशकाल, शैली और उद्देश्य के रूप में कथा के अंग भी मिलते हैं। निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, टीका आदि ग्रन्थों में उपलब्ध कथायें उत्तरकालीन विकास को इंगित करती हैं। यहाँ अपेक्षाकृत

Jain Education International 2010_04 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सरसता और स्पष्टता अधिक दिखाई देती है।

समूचे प्राकृत साहित्य को अनेक प्रकार से विभाजित किया गया है। आगमों के अकथा, विकथा और कथा ये तीन भेद किये गये हैं।[१] कथा में लोककल्याण का हेतु गर्भित होता है इसलिए वह उपादेय है। शेष त्याज्य है। विषय की दृष्टि से कथा के चार भेद हैं— आक्षेपणी, अर्थ, काम और मिश्रकथा। धर्मकथा के भी चार भेद हैं— आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेदनी और निर्वेदनी। जैनाचार्यों ने इसी प्रकार को अधिक अपनाया है।[२] पात्रों के आधार पर उन्हें दिव्य, मानुष और मिश्र कथाओं के रूप में वर्गीकृत किया जा सकता है।[३] तीसरा वर्गीकरण भाषा की दृष्टि से हुआ है— संस्कृत, प्राकृत और मिश्र।[४] उद्योतनसूरि ने शैली की दृष्टि से कथा के पाँच भेद किये हैं— सकलकथा, खण्डकथा, उल्लापकथा, परिहासकथा और संकीर्णकथा।[५] प्राकृत साहित्य में मिश्रकथायें अधिक मिलती हैं। इन सभी कथा ग्रन्थों का परिचय देना यहाँ सरल नहीं। इसलिए विशिष्ट ग्रन्थों का ही यहाँ उल्लेख किया जा रहा है।

कथासंग्रह

जैनाचार्यों ने कुछ ऐसी धर्मकथाओं का संग्रह किया है जो साहित्यकार के लिए सदैव उपजीव्य रहा है। धर्मदासगणि (१०वीं शती) के उपदेशमालाप्रकरण (५४२ गा०) में ३१० कथानकों का संग्रह है। जयसिंहसूरि (सं० ११०८) का कहारयणकोस (१२३०० श्लोक प्रमाण और ५० कथायें) देवेन्द्रगणि (सं० ११२९) का अक्खाणयमणिकोस (१२७ कथानक) आदि महत्त्वपूर्ण कथासंग्रह हैं जिनमें धर्म के विभिन्न आयामों पर कथानकों के माध्यम से दृष्टान्त प्रस्तुत किये गये हैं। ये दृष्टान्त सर्वसाधारण के लिए बहुत उपयोगी हैं।

उपर्युक्त कथानकों अथवा लोककथाओं का आश्रय लेकर कुछ स्वतन्त्र कथा साहित्य का भी निर्माण किया गया है जिनमें धर्माराधना के विविध पक्षों की प्रस्तुति मिलती है। उदाहरणत: हरिभद्रसूरि (सं० ७५७-८२७) की 'समराइच्चकहा' ऐसा ग्रन्थ है जिनमें महाराष्ट्री प्राकृत गद्य में ९ प्रकरण हैं और उनमें समरादित्य

---

१. दशवैकालिक, गा० १८८; समराइच्च कहा, पृ० २.
२. धवलटीका, पुस्तक १, पृ० १०४.
३. लीलावईकहा, ३६.
४. समराइच्चकहा, पृ० २; दशवैकालिक गाथा, १८८.
५. कवलयमाला, प० ४.

Jain Education International 2010_04 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और गिरिसेन के ९ भवों का सुन्दर वर्णन है। इसी कवि का धूर्ताख्यान (४८ गा०) भी अपने ढंग की एक निराली कृति है जिसमें हास्य और व्यंग्यपूर्ण मनोरञ्जक कथायें निबद्ध हैं। जयराम की प्राकृत धम्मपरिक्खा भी इसी शैली में रची गई एक उत्तम कृति है।

यशोधर और श्रीपाल के कथानक की आचार्यों को बड़े रुचिकर प्रतीत हुए। सिरिवालकहा (१३४२ गा०) को नागपुरीय तपागच्छ के रत्नशेखरसूरि ने संकलित किया और हेमचन्द्र (सं० १४२८) ने उसे लिपिबद्ध किया। इसी के आधार पर प्रद्युम्नसूरि और विनयविजय (सं० १६८३) ने प्राकृत कथा-रचनायें की। सुकोशल, सुकुमाल और जिनदत्त के चरित भी लेखकों के लिए उपजीव्य कथानक रहे हैं।

कतिपय रचनायें नारी पात्र प्रधान हैं। पादलिप्तसूरि रचित तरंगवईकहा इसी प्रकार की रचना है। यह अपने मूलरूप में उपलब्ध नहीं पर नेमिचन्द्रगणि ने इसी को तरंगलोला के नाम से संक्षिप्त रूपान्तरित कथाओं (१६४२ गा०) में प्रस्तुत किया है। उद्योतनसूरि (सं० ८३५) की कुवलयमाला (१३००० श्लोक प्रमाण) महाराष्ट्री प्राकृत में गद्य-पद्य मयी चम्पू शैली में लिखी गई इसी प्रकार की अनुपम कृति है जिसे हम महाकाव्य कह सकते हैं। गुणपालमुनि (सं० १२६४) का इसिदत्ताचरिय (१५५० ग्रन्थाग्रप्रमाण), धनेश्वरसूरि (सं० १०९५) का सुरसुंदरीचरिय (४००१ गा०), देवेन्द्रसूरि (सं० १३२३) का सुदंसणाचरिय (४००२ गा०) आदि रचनायें भी यहाँ उल्लेखनीय हैं। इन कथा-ग्रन्थों में नारी में प्राप्त भावनाओं का सुन्दर विश्लेषण मिलता है।

कुछ कथा ग्रन्थ ऐसे भी रचे गये हैं जिनका विशेष सम्बन्ध किसी पर्व पूजा अथवा स्तोत्र से रहा है। ऐसे ग्रन्थों में श्रुतपञ्चमी के माहात्म्य को प्रदर्शित करने वाला 'नाणपंचमीकहाओ' ग्रन्थ सर्वप्रथम उल्लेखनीय है। इसमें १० कथा और २८०४ गाथायें हैं। इन कथाओं में भविस्सयत्तकहा ने उत्तरकालीन आचार को विशेष प्रभावित किया है। इसके अतिरिक्त एकादशीव्रतकथा (१३७ गा०) आदि ग्रन्थ भी उपलब्ध होते हैं।

लाक्षणिक साहित्य

लाक्षणिक साहित्य से हमारा तात्पर्य है— व्याकरण, कोश, छन्द, ज्योति निमित्त व शिल्पादि विधायें। इन सभी विधाओं पर प्राकृत रचनायें मिलती अणुयोगदारसुत्त आदि प्राकृत आगम साहित्य में व्याकरण के कुछ सिद्धान्त परिलक्षित होते हैं पर आश्चर्य की बात है कि अभी तक प्राकृत भाषा में रचा कोई भी प्राचीन

Jain Education International 2010_04 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

व्याकरण उपलब्ध नहीं हुआ। समन्तभद्र, वीरसेन और देवेन्द्रसूरि के प्राकृत व्याकरणों का उल्लेख अवश्य मिलता है पर अभी तक वे प्रकाश में नहीं आ पाये। सम्भव है, वे ग्रन्थ प्राकृत में रचे गये हों। संस्कृत भाषा में लिखे गये, प्राकृत व्याकरणों में चण्ड का स्ववृत्तिसहित प्राकृत व्याकरण (९९ अथवा १०३ सूत्र), हेमचन्द्रसूरि का सिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासन (१११९ सूत्र), त्रिविक्रम (१३वीं शती) का प्राकृतशब्दानुशासन (१०३६ सूत्र) आदि ग्रन्थ विशेष उल्लेखनीय हैं। इन ग्रन्थों में प्राकृत और अपभ्रंश के व्याकरणविषयक नियमों-उपनियमों का सुन्दर वर्णन मिलता है।[१]

भाषा का ज्ञान प्राप्त करने के लिये कोश की भी आवश्यकता होती है। कोश की दृष्टि से निरुक्तियों का विशेष महत्त्व है। उनमें एक-एक शब्द के भिन्न-भिन्न अर्थों को प्रस्तुत किया गया है। प्राकृत कोशकला के उद्भव और विकास की दृष्टि से उनको समझना आवश्यक है। हेमचन्द्र की देशीनाममाला (७८३ गा०) में ३९७ देशज शब्दों का संकलन किया गया है जो भाषाविज्ञान की दृष्टि से विशेष उपयोगी है। इसके अतिरिक्त धनपाल (सं० १०२९) का पाइयलच्छी नाममाला (२७९ गा०), विजयराजेन्द्रसूरि (सं० १६६०) का अभिधानराजेन्द्रकोश (चार लाख श्लोक प्रमाण) और हरगोविन्ददास त्रिविकमचन्द सेठ का पाइयसद्दमहण्णव (प्राकृत-हिन्दी) कोश भी यहाँ उल्लेखनीय हैं।

संवेदनशीलता जागृत करने-कराने के लिए छन्द का प्रयोग हुआ है। नंदियड्ड (लगभग १०वीं शती) का गाहालक्खण (९६गा०) उल्लेखनीय प्राकृत छन्द ग्रन्थ है।

गणित के क्षेत्र में महावीराचार्य का गणितसारसंग्रह तथा भास्कराचार्य की लीलावती प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। इन दोनों के आधार से उनमें उल्लिखित विषयों को लेकर ठक्कुर फेरू (१३वीं शती) ने गणितसारकौमुदी नामक ग्रन्थ रचा। उनके अन्य ग्रन्थ हैं— रत्नपरीक्षा (१३२ गा०), द्रव्यपरीक्षा (१४९ गाथा) धातूत्पत्ति (५७ गा०), भूगर्भप्रकाश आदि। यहाँ यतिवृषभ (छठी शती) की तिलोयपण्णत्ति का भी उल्लेख किया जा सकता है जिसमें लेखक ने जैन मान्यतानुसार त्रिलोक सम्बन्धी विषय को उपस्थित किया है। यह अठारह हजार श्लोक प्रमाण ग्रन्थ है।

---

१. विशेष देखिये, आधुनिक युग में प्राकृत व्याकरण-शास्त्र का अध्ययन-अनुसन्धान डॉ० भागचन्द्र जैन पृ० २३९-२६१.

Jain Education International 2010_04 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ज्योतिष विषयक ग्रन्थों में सूर्यप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति आदि अंगबाह्य ग्रन्थों के अतिरिक्त ठक्कुर फेरू का ज्योतिस्सार (९८ गा०) हरिभद्रसूरि की लग्गसुद्धि (१३३ गा०), रत्नशेखरसूरि (१५वीं शती) की दिणसुद्धि (१४४ गा०), हीरकलश (सं० १६२१) का ज्योतिस्सार (९०० दोहा) आदि ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं। निमित्तशास्त्र में भौम, उत्पात, स्वप्न, अंग, अन्तरिक्ष, स्वर, लक्षण, व्यञ्जन आदि निमित्तों का अध्ययन किया गया है। किसी अज्ञात कवि का जयपाहुड (३७८ गा०), धरसेन का जोणिपाहुड, ऋषिपुत्र का निमित्तशास्त्र (१८७ गा०), दुर्गदेव (सं० १०८४) का रिट्ठसमुच्चय (२६१ गा०) आदि रचनायें प्रमुख हैं। अंगविज्जा एक अज्ञातकर्तृक रचना है जिसमें ६० अध्यायों में शुभाशुभ निमित्तों का वर्णन किया गया है। ९-१०वीं शती के पूर्व का यह ग्रन्थ सांस्कृतिक सामग्री से भरा हुआ है। करलक्खण (६१ गा०) भी किसी अज्ञात कवि की रचना है जिसमें लक्षण, रेखाओं आदि का वर्णन है।

वास्तु शिल्प शास्त्र के रूप में ठक्कुर फेरू का वास्तुसार (९२८० गा०) प्रतिष्ठित ग्रन्थ है जिसमें भूमिपरीक्षा, भूमिशोधन आदि पर विवेचन किया गया है। इसी कवि की एक अन्य कृति रत्नपरीक्षा (१३२ गा०) है जिसमें पद्मराग, मुक्ता, विद्रुम आदि १६ प्रकार के रत्नों का उत्पत्ति-स्थान, आकार, वर्ण, गुण, दोष आदि पर विचार किया गया है। उन्हीं की द्रव्यपरीक्षा (१४८ गा०) में सिक्कों के मूल्य, तौल, नाप आदि पर, धातूत्पत्ति (५७ गा०) में पीतल, तांबा आदि धातुओं पर तथा भूगर्भप्रकाश में ताम्र, स्वर्ण आदि द्रव्य वाली पृथ्वी की विशेषताओं पर विशद् प्रकाश डाला गया है। ये सभी ग्रन्थ वि०सं० १३७२-७५ के बीच रचे गये हैं।

इस प्रकार प्राकृत भाषा और साहित्य के सर्वेक्षण से यह स्पष्ट हो जाता है कि जैनाचार्यों ने उसकी हर विधा को समृद्ध किया है। प्रस्तुत अध्याय में स्थानाभाव के कारण सभी का उल्लेख करना तो सम्भव नहीं हो सका। पर इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि प्राकृत जैन साहित्य लगभग पच्चीस सौ वर्षों से साहित्य के हर क्षेत्र में अपने योगदान से हरा-भरा करता आ रहा है। प्राच्य साहित्य, इतिहास और संस्कृति का हर प्राङ्गण प्राकृत साहित्य का ऋणी है। उसने लोकभाषा और लोकजीवन को अंगीकार कर उनकी समस्याओं के समाधान की दिशा में आध्यात्मिक चेतना को जागृत किया। इतना ही नहीं, आधुनिक साहित्य के लिए भी वह उपजीव्य बना हुआ है। प्रेमाख्यान काव्यों के विकास में प्राकृत जैन कथा साहित्य को भुलाया नहीं जा सकता। संस्कृत चम्पू और चरित काव्य के प्रेरक प्राकृत ग्रन्थ ही हैं। काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों का सरस प्रतिपादन

Jain Education International 2010_04 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी यहाँ हुआ है। दर्शन और सिद्धान्त से लेकर भाषाविज्ञान, व्याकरण और इतिहास तक सब कुछ प्राकृत जैन साहित्य में निबद्ध है। उसके समूचे योगदान का मूल्यांकन अभी शेष है।

संस्कृत साहित्य

जैनाचार्यों ने प्राकृत भाषा के समान संस्कृत भाषा को भी अपनी अभिव्यक्ति का साधन बनाया और इस क्षेत्र को भी अपने पुनीत योगदान से अलंकृत किया। यद्यपि संस्कृत भाषा में सर्वप्रथम रचना करने वाले जैनाचार्यों में उमास्वाति अथवा उमास्वामी का नाम बड़ी श्रद्धा के साथ स्मरण किया जाता है पर हम यहाँ समूचे संस्कृत जैन साहित्य को विविध विधाओं में वर्गीकृत कर उसका संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करना अधिक उपयोगी समझ रहे हैं। साथ ही विधाओं का जैसा क्रम प्राकृत साहित्य में हमने रखा है वही क्रम यहाँ भी अपना रहे हैं।

चूर्णि और टीका साहित्य

चूर्णि साहित्य प्राय: प्राकृत में लिखा गया है। कुछ चूर्णियाँ ऐसी हैं जिनमें संस्कृत के कुछ गद्यांश और पद्यांश उद्धृत किये गये हैं। उत्तराध्ययनचूर्णि, आचारांगचूर्णि, सूत्रकृतांगचूर्णि, निशीथचूर्णि और बृहतकल्पचूर्णि ऐसे ही ग्रन्थ हैं जिनमें अल्पसंस्कृत-मिश्रित प्राकृत का प्रयोग हुआ है।

आगम साहित्य पर जो टीकात्मक अथवा विवरणात्मक ग्रन्थ लिखे गये हैं वे संस्कृत में हैं। इस प्रकार की प्रमुख टीकायें और उनके टीकाकार इस प्रकार हैं—

		श्लोक प्रमाण
जिनभद्र (७वीं शती)	विशेषावश्यकभाष्य स्वोपज्ञवृत्ति	३६०३ ”
हरिभद्र (८वीं शती)	आवश्यकवृत्ति	२२००० ”
	दशवैकालिकवृत्ति	
	जीवाभिगमवृत्ति	
	प्रज्ञापनावृत्ति	
	नन्दिवृत्ति	
	अनुयोगद्वारवृत्ति	
कोट्याचार्य (८वीं शती)	विशेषावश्यकभाष्यविवरण	१३७०० ”
शीलांक (९-१०वीं शती)	आचारांगविवरण	१२००० ”

Jain Education International 2010_04 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

	सूत्रकृतांगविवरण	१२८५० ,,
शान्तिसूरि (११वीं शती)	उत्तराध्ययनटीका	
द्रोणसूरि (११-१२वीं शती)	ओघनिर्युक्ति वृत्ति	
अभयदेव (१२वीं शती)	स्थानांग वृत्ति	१४२५० ,,
	समवायांग वृत्ति	३२७५ ,,
	व्याख्या प्रज्ञप्ति वृत्ति	१८६१६ ,,
	ज्ञाता धर्मकथा विवरण	३८०० ,,
	उपासक दशांग वृत्ति	
	अन्तःकृद्दशांगवृत्ति	
	अनुत्तरौपपातिक दशावृत्ति	
	प्रश्न व्याकरण वृत्ति	
	विपाक वृत्ति	
	औपपातिकवृत्ति	
मलयगिरि(११-१२वीं शती)	भगवतीसूत्र-द्वितीय शतकवृत्ति	३७५० ,,
	राजप्रश्नोपांगटीका	३७०० ,,
	जीवाभिगमोपांगटीका	१६००० ,,
	प्रज्ञापनोपांगटीका	१६००० ,,
	चन्द्रप्रज्ञप्त्युपांगटीका	९५०० ,,
	सूर्यप्रज्ञप्तिटीका	९५०० ,,
	नन्दसूत्रटीका	७७३२ ,,
	व्यवहारसूत्रवृत्ति	३४००० ,,
	बृहत्पकल्पपीठिकावृत्ति (अपूर्ण)	४६०० ,,
	आवश्यकवृत्ति (अपूर्ण)	१८००० ,,
	पिण्डनिर्युक्तिटीका	६७०० ,,
	ज्योतिष्करण्डकटीका	५००० ,,
	धर्मसंग्रहणीवृत्ति	१००० ,,
	कर्मप्रकृतिवृत्ति	८००० ,,
	पंचसंग्रहवृत्ति	१८८५० ,,
	षडशीतिवृत्ति	२००० ,,

Jain Education International 2010_04 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

	सप्ततिकावृत्ति	३७८०	,,
	बृहत्संग्रहणीवृत्ति	५०००	,,
	बृहत्क्षेत्रसमासवृत्ति	९५००	,,
	मलयगिरिशब्दानुशासन	५०००	,,
मलधारी हेमचन्द्र(१२वीं शती)	आवश्यकवृत्तिप्रदेश व्याख्या	४६००	,,
	अनुयोगद्वारवृत्ति	५९००	,,
	विशेषावश्यक भाष्य-वृहत्वृत्ति	२८०००	,,
	शतक विवरण		
	उपदेश माला सूत्र		
	उपदेशमालावृत्ति		
	जीवसमासविवरण	४१५००	,,
	भवभावना सूत्र		
	भवभावना विवरण		
	नन्दि टिप्पण		
नेमिचन्द्र (१०७२ ई०)	उत्तराध्ययन सुखबोधाटीका	१२०००	'
श्रीचन्द्रसूरि (१२वीं शती)	निशीथचूर्णि दुर्गपदव्याख्या		
	निरयावलिकावृत्ति	६००	,,
	जीतकल्पवृहच्चूर्णि	११२०	,,
क्षेमकीर्ति (१२७५ ई०)	बृहत्कल्पवृत्ति	४२६००	,,
माणिक्यशेखरसूरि(१५वींशती)	आवश्यकनिर्युक्तिदीपिका		
महेश्वरसूरि (१५वीं शती)	आचारांगदीपिका		
विमलसूरि (१६३२ ई०)	उत्तराध्ययनव्याख्या	१६२५५	,,
समयसुन्दरसुरि (१६३४ ई०)	दशवैकालिकदीपिका	३४५०	,,
ज्ञानविमलसूरि (१८वीं शती)	प्रश्नव्याकरण वृत्ति	७५००	,,
संघविजयगणि (१६१७ ई०)	कल्पसूत्र-कल्पप्रदीपिका	३२५०	,,
विनयविजय उपाध्याय (१६३९ई०)	कल्पसूत्र सुबोधिका	५४००	,,
समयसुन्दरगणि (१७वीं शती)	कल्पसूत्र-कल्पलता	७७००	,,
शान्तिसागरगणि (१६५० ई०)	कल्पसूत्रकौमुदी	३७०७	,,

Jain Education International 2010_04 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कर्म साहित्य

मूलकर्म साहित्य प्राकृत में लिखा गया है पर टीका साहित्य संस्कृत में भी मिलता है। श्याम कुण्ड ने कर्म प्राभृत और कषाय प्राभृत पर प्राकृत-संस्कृत-कन्नड़ मिश्रित भाषाओं में बारह हजार श्लोक प्रमाण टीका लिखी पर वह आज उपलब्ध नहीं। इसी प्रकार समन्तभद्र ने भी कर्मप्राभृत पर ४८००० श्लोक प्रमाण सुन्दर संस्कृत भाषा में टीका लिखी, पर वह भी आज नहीं मिलती। उपलब्ध टीकाओं में कर्मप्राभृत (षट्खण्डागम) पर वीरसेन द्वारा लिखी प्राकृत-संस्कृत-मिश्रित, धवला टीका उल्लेखनीय है जो ७२००० श्लोक प्रमाण है। इसके बाद उन्होंने कषायप्राभृत की चार विभक्तियों पर २०००० श्लोक प्रमाण जयधवला टीका लिखी जो पूरी नहीं हो सकी। उस अधूरे काम को जयसेन (जिनसेन) ने ४०००० श्लोक प्रमाण में लिखकर पूरा किया।[१] कषायपाहुड की रचना आचार्य गुणधर (ई० द्वितीय शती) ने तथा कर्मप्राभृत (षट्खण्डागम) की रचना पुष्पदन्त-भूतबलि (प्रथम शताब्दी) ने शौरसेनी प्राकृत में की थी। यहाँ कषायप्राभृत पर संस्कृत में लिखी गई वीरसेनजिनसेनकृत जयधवला टीका (शक सं० ७३८) ही विशेष उल्लेखनीय है। यह साठ हजार श्लोक प्रमाण बृहतकाय ग्रन्थ है। ये दोनों ग्रन्थ दिगम्बर सम्प्रदाय से सम्बद्ध हैं। उत्तरकालीन पञ्चसंग्रह आदि कर्मग्रन्थ इन्हीं के आधार पर लिखे गये हैं।

षड्खण्डागम और कषायपाहुड की भाषा शौरसेनी है जिसका पूर्वरूप हमें अशोक के गिरनार शिलालेख (ई०पू० ३री शती) में मिलता है। धवला टीका मणिप्रवाल शैली (गद्यात्मक प्राकृत तथा क्वचित् संस्कृत) में लिखी गई है। उसमें प्राकृत के तीन स्तर मिलते हैं— १. सूत्रों की प्राकृत जो प्राचीनतम शौरसेनी के रूप में है, २. उद्धृत गाथाओं की प्राकृत, और ३. गद्य प्राकृत। यहाँ शौरसेनी प्राकृत के साथ-साथ अर्धमागधी प्राकृत की कतिपय विशेषतायें दृष्टव्य हैं। भाषाविज्ञान की दृष्टि से प्राकृत के ये तीन स्तर उसके भाषा विकासात्मक रूप में परिचायक हैं। शौरसेनी के महाराष्ट्री प्राकृत का मिश्रण उत्तरकाल में मिलने लगता है। दण्डी के अनुसार शौरसेनी ने ही महाराष्ट्र में नया रूप धारण किया जिसे महाराष्ट्री प्राकृत कहा जाता है। वही उत्कृष्ट प्राकृत है (महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृष्टं प्राकृतं विदुः-काव्यादर्श)। सेतुबन्ध आदि महाकाव्य इसी भाषा में लिखे गये (भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान, पृ० ७६-७७)।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय का कर्म साहित्य उसके कर्मप्रकृति, शतक, पञ्चसंग्रह

१. षड्खण्डागम, पुस्तक १, प्रस्तावना, पृ० ३८.

Jain Education International 2010_04 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और सप्ततिका नामक कर्मग्रन्थों पर आधारित है। कर्मप्रकृति पर दो संस्कृत टीकायें हैं— एक मलयगिरिकृत (१२-१३वीं शती) वृत्ति (८००० श्लोक प्रमाण) और दूसरी यशोविजय (१८वीं शती) कृत वृत्ति (१३००० श्लोक प्रमाण)। पञ्चसंग्रह की व्याख्याओं में दो व्याख्यायें महत्त्वपूर्ण हैं चन्द्रर्षि महत्तरकृत स्वोपज्ञवृत्ति (९००० श्लोक प्रमाण) तथा मलयगिरिकृत वृहदवृत्ति (१८८५० श्लोक प्रमाण)। छोटी-मोटी और भी टीकायें प्रकाशित हुई हैं।

सिद्धान्त साहित्य

आचार्य उमास्वाति (वि॰ १-२ शती) प्रथम आचार्य हैं जिन्होंने प्राकृत में लिखित सिद्धान्त साहित्य को संस्कृत में सूत्र-बद्ध किया। उनके तत्त्वार्थ-सूत्र पर ही उत्तरकाल में सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थराजवार्तिक, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक आदि अनेक वृहत्काय ग्रन्थों की रचना हुई। उसके बाद आचार्य कुन्दकुन्द के प्राकृत ग्रन्थों पर संस्कृत में अनेक टीकायें रची गई। प्रवचनसार और समयसार पर अमृतचन्द्र (१०वीं शती) और जयसेन (१२वीं शती) की टीकायें, नियमसार पर पद्मप्रभ मलधारीदेव, पञ्चास्तिकाय पर अमृतचन्द्र, जयसेन, ज्ञानचन्द्र, मल्लिषेण, प्रभाचन्द्र आदि की टीकायें तथा अट्ठपाहुड पर श्रुतसागर, अमृतचन्द्र, आदि की टीकायें मिलती हैं। जीववियार पर पाठक रत्नाकर (वि॰सं॰ १६१०), मेघनन्दन (वि॰सं॰ १६१०), समयसुन्दर तथा क्षमाकल्याण (वि॰सं॰ १८५९) ने, जीवसमास पर हेमचन्द्र (६६२७ श्लोक प्रमाण) ने, समयखित्तसमास पर हरिभद्रसूरि, मलयगिरिसूरि व रत्नशेखरसूरि ने, पवयणसारुद्धार पर सिद्धसेनसूरि (वि॰सं॰ १२४८) ने १६५०० श्लोक प्रमाण और उदयप्रभ ने ३२०३ श्लोक प्रमाण, तथा सत्तरिसयठाणपयरण पर देवविजय (वि॰सं॰ १३७०) ने २१०० श्लोक प्रमाण टीकायें लिखी हैं।

सिद्धान्त साहित्य में टीकात्मक ग्रन्थों की संख्या अवश्य अधिक है पर उनमें मौलिकता की कमी नहीं। कुछ मौलिक ग्रन्थ भी हैं। जैसे अमृतचन्द्रसूरि का पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय, व तत्त्वार्थसार, माघनन्दी (१३वीं शती) का शास्त्रसार समुच्चय, तथा जिनहर्ष (वि॰सं॰ १५०२) का विंशतिस्थानकविचारामृतसंग्रह (२८०० श्लोक परिमाण) उल्लेखनीय हैं।

उपदेशात्मक साहित्य भी टीकात्मक अधिक है। मूलत: वे प्राकृत में लिखे गये हैं पर बाद में उन पर संस्कृत में टीकायें हुई हैं। जैसे— उवएसमाला पर लगभग बीस संस्कृत टीकायें हैं जिनमें सिद्धर्षि (वि॰सं॰ १६२) और रत्नप्रभसूरि (वि॰सं॰ १२३८) की टीकायें अग्रगण्य कही जा सकती है। जयशेखर (वि॰सं॰

Jain Education International 2010_04 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१४६२) की प्रबोधचिन्तामणि (१९११ पद्य) सोमधर्मगणी, (वि॰सं॰ १५०३) की उपदेशसप्ततिका (३००० श्लोक प्रमाण), रत्नमन्दिरगणी (वि॰सं॰ १५१७) की उपदेशतरंगिणी, गुणभद्र (९वीं शती) का आत्मानुशासन, हरिभद्रसूरि का धर्मबिन्दु, वर्धमान (वि॰सं॰ ११७२) का धर्मरत्नकरण्डक, आशाधर (१२३९ ई॰) के सागारधर्मामृत और अनगार धर्मामृत, जयशेखर (वि॰सं॰ १४५७) की सम्यक्त्वकौमुदी, चरित्ररत्नगणी (वि॰सं॰ १४९९) का दानप्रदीप, उदयधर्मगणी (वि॰सं॰ १५४३) का धर्मकल्पद्रुम, अमितगति (लगभग १००० ई॰) के सुभाषितरत्नसन्दोह आदि ग्रन्थ मूलतः संस्कृत में हैं। उनपर अनेक टीकायें भी लिखी गई हैं।

न्याय साहित्य

उत्तरकाल में सिद्धान्त ने न्याय के क्षेत्र में प्रवेश किया। आचार्यों ने उसे भी परिपुष्ट किया। समन्तभद्र (२-३री शती) की आप्तमीमांसा, स्वयंभूस्तोत्र और युक्त्यनुशासन इस क्षेत्र के प्राथमिक और विशिष्ट ग्रन्थ हैं। आप्तमीमांसा पर अकलंक (७२०-७८० ई॰) की अष्टशती, विद्यानंदि (७७५-८४० ई॰) की अष्टसहस्री, और वसुनन्दि (११-१२वीं शती) की देवागम वृत्ति उल्लेखनीय है। इनके अतिरिक्त मल्लवादी (३५०-४३० ई॰) का नयचक्र, पूज्यपाद देवनन्दी (पंचम शती) की सर्वार्थसिद्धि, सिद्धसेन (६-९वीं शती) के सन्मतितर्क और न्यायावतार, हरिभद्रसूरि (७०५-७७५ ई॰) के शास्त्रवार्तासमुच्चय, षड्दर्शनसमुच्चय और अनेकान्त जयपताका, अकलंक (७२०-७८० ई॰) के न्यायविनिश्चय, लघीयस्त्रय, सिद्धिविनिश्चय, प्रमाण संग्रह, तत्त्वार्थ राजवार्तिक, अष्टशती, विद्यानन्दि (७७५-८५० ई॰) की प्रमाण परीक्षा, सत्यशासन परीक्षा, आप्तपरीक्षा, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, पत्रपरीक्षा, सिद्धर्षिगणि (९-१०वीं शती) की न्यायावतारटीका, माणिक्यनन्दि (१०-११वीं शती) का परीक्षामुख, प्रभाचन्द्र (११वीं शती) के न्यायकुमुदचन्द्र और प्रमेयकमलमार्तण्ड, अनन्तवीर्य (११वीं शती) की प्रमेयरत्नमाला, हेमचन्द्र (१०८९-११७२ ई॰) की प्रमाणमीमांसा, अन्ययोगव्यवच्छेदिका, वादिदेवसूरि (१२वीं शती) का प्रमाणनय तत्त्वालोक, वादिराजसूरि (१२वीं शती) के प्रमाणनिर्णय और न्यायविनिश्चय विवरण, मल्लिषेण (१३वीं शती) की स्याद्वादमंजरी, गुणरत्न (१३४३-१४१८ ई॰) की षड्दर्शनसमुच्चयटीका आदि ग्रन्थ जैन न्याय के आधारस्तम्भ हैं। इस युग में अनेकान्तवाद की स्थापना तार्किक ढंग से की जा चुकी थी तथा प्रत्यक्ष और परोक्ष की परिभाषाओं को स्थिर कर दिया गया था। नव्यन्याय के क्षेत्र में यशोविजय (१८वीं शती) के नयप्रदीप, ज्ञानबिन्दु, अनेकान्त व्यावस्था, तर्कभाषा, न्यायलोक, न्यायखण्डखाद्य आदि ग्रन्थ

Jain Education International 2010_04 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भी उल्लेखनीय हैं। संस्कृत साहित्य के विकास में इन दार्शनिक और न्याय विषयक ग्रन्थों का एक विशिष्ट योगदान है। इनमें तार्किक पद्धति के माध्यम से सिद्धान्तों को प्रस्थापित किया गया है।

योग साहित्य अध्यात्म की चरमावस्था को प्राप्त करने का सुन्दरतम साधन है। संस्कृत जैन लेखकों ने इस पर भी खूब लिखा है। पूज्यपाद का इष्टोपदेश तथा समाधिशतक प्राचीनतम रचनायें होंगी। उनके बाद हरिभद्रसूरि सम्भवतः प्रथम आचार्य होंगे जिन्होंने और अधिक जैन योग विषय ग्रन्थों को संस्कृत में लिखने का उपक्रम किया। उनके प्रमुख ग्रन्थ हैं— योगबिन्दु (५२७ पद्य) योगदृष्टि समुच्चय (२२६ पद्य) और ब्रह्मसिद्धिसमुच्चय (४२३ पद्य)। इसी प्रकार हेमचन्द्र (१२वीं शती) का योगशास्त्र, शुभचन्द्र (१३वीं शती) का ज्ञानार्णव और रत्नशेखरससूरि (१५वीं शती) का ध्यानदण्डकस्तुति तथा आशाधर का आध्यात्मरहस्य आदि ग्रन्थ संस्कृत में लिखे गये हैं। इसी प्रकार की योग विषयक और भी कृतियाँ हैं।

योग साधना के लिए अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन आवश्यक है। संस्कृत में द्वादशानुप्रेक्षा नाम से तीन ग्रन्थ मिलते हैं— सोमदेवकृत, कल्याणकीर्तिकृत और अज्ञातकर्तृक। मुनि सुन्दरसूरि का आध्यात्मकल्पद्रुम, यशोविजयगणि का आध्यात्मसार और आध्यात्मोपनिषद्, राजमल (वि॰सं॰ १६४१) का आध्यात्मकमलमार्तण्ड, सोमदेव की अध्यात्मतरंगणी आदि ग्रन्थ अध्यात्म से सम्बद्ध हैं। इन ग्रन्थों में वन-वचन-काय की प्रवृत्तियों को संयमितकर परम विशुद्धावस्था को कैसे प्राप्त किया जा सकता है, इसका वर्णन किया गया है। कार्तिकेयानुप्रेक्षा नामक प्राकृत ग्रन्थ पर शुभचन्द्र भट्टारक (१५५६ ई॰) की संस्कृत टीका भी उपलब्ध है।

आचार साहित्य

प्राकृत के समान संस्कृत में भी आचार साहित्य का निर्माण हुआ है। उमास्वाति (प्रथम-द्वितीय शती) का तत्त्वार्थसूत्र इस क्षेत्र की प्रथम रचना कही जा सकती है। कुछ विद्वान् प्रशमरतिप्रकरण को भी उन्हीं का ग्रन्थ मानते हैं। समन्तभद्र (द्वितीय-तृतीय शती) का रत्नकरण्डश्रावकाचार, अमितगति (वि॰सं॰ १०५०), का श्रावकाचार, अमृतचन्द्रसूरि (१००० ई॰) का पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय, सोमदेव का उपासकाध्ययन, माघनन्दि (वि॰सं॰ १२६५) का श्रावकाचार, आशाधर के सागर-अनगार धर्मामृत, वीरनंदी (१२वीं शती) का आचारसार, सोमप्रभसूरि (१२-१३वीं शती) का सिन्दूर प्रकरण और शृङ्गारवैराग्यतरंगणी, देवेन्द्रसूरि (१३वीं

Jain Education International 2010_04 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शती) की संघाचारविधि, रत्नशेखरसूरि (वि॰सं॰ १५१६) का आचार प्रदीप (४०६५ श्लोक प्रमाण), राजमल्ल (१७वीं शती) कृत लाटीसंहिता आदि ग्रन्थ भी आचार विषयक हैं।

भक्तिपरक साहित्य

इनके अतिरिक्त संस्कृत में कुछ ऐसे ग्रन्थ लिखे गये हैं जिनका विशेष सम्बन्ध पूजा-प्रतिष्ठा आदि से रहा है। इनकी भी संख्या कम नहीं। ये ग्रन्थ भक्तिपरक हैं। पूज्यपाद की भक्तिपरक रचनायें इस क्षेत्र में सम्भवत: प्राचीनतम रही होंगी जिनकी रचना आचार्य कुन्दकुन्द की भक्तिपरक कृतियों के आधार पर हुई। समन्तभद्र का देवागमस्तोत्र जिनस्तुतिशतक व स्वयंभूस्तोत्र, सिद्धसेन की बत्तीसियाँ, अकलंक का अकलंकस्तोत्र, वप्पिभट्टि (७४३-८३८ ई॰) का चतुर्विंशतिजिनस्तोत्र, धनञ्जय (८-९वीं शती) का विषापहारस्तोत्र, गुणभद्र (९वीं शती) का आत्मानुशासन, विद्यानन्दि (८-९वीं शती), का सुपार्श्वनाथस्तोत्र, अमितगति (१०वीं शती) कृत सुभाषित रत्नसंदोह, वादिराज (१०-११वीं शती) कृत एकीभाव स्तोत्र, वसुनन्दि (११वीं शती) कृत ज्ञानार्णव, आशाधर (१२-१३वीं शती) कृत सहस्रनामस्तोत्र, अर्हद्दास (१३वीं शती) कृत भव्यजनकंठाभरण, पद्मनन्दि (१४वीं शती) कृत जरीपल्लीपार्श्वनाथ स्तोत्र, वैराग्यशतक, विमलकवि (१५वीं शती) कृत प्रश्नोत्तरमाला, दिवाकरमुनि (१५वीं शती) कृत शृङ्गारवैराग्यतरंगणी आदि ग्रन्थ भक्तिपरक हैं। भक्तों ने इन संस्कृत ग्रन्थो में अपने इष्टदेव की स्तुति की है। लगभग प्रत्येक ग्रन्थ में अलंकारों ने किसी न किसी की स्तुति की है जिनका अभी तक संकलन नहीं हो पाया। सूत्रकृतांग में तो वीरस्तुति नाम का समूचा अध्याय है।

कुछ ग्रन्थ प्रतिष्ठाओं से सम्बद्ध है। "प्रतिष्ठाकल्प" नाम के ऐसे अनेक ग्रन्थों के उल्लेख मिलते हैं परन्तु उनमें से हेमचन्द्र, हस्तिमल और हरिविजय सूरि के ही प्रतिष्ठाकल्प अभी तक प्रकाश में आये हैं। इनके अतिरिक्त वसुनन्दि का प्रतिष्ठासारसंग्रह व आशाधर का प्रतिष्ठा सारोद्धार भी महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं।

जैनधर्म में मन्त्र-तन्त्र की भी परम्परा रही है। सूरिमंत्र जिनप्रभसूरि का सूरिमन्त्रबृहत्कल्प विवरण, सिंहतिलकसूरि (१३वीं शती) का मन्त्रराजरहस्य, मल्लिषेण के भैरवपद्मावतीकल्प, कामचाण्डालिनीकल्प, सरस्वतीकल्प, विनयचन्द्रसूरि का दीपालिकाकल्प आदि मन्त्र-तन्त्रात्मक रचनायें प्रसिद्ध है। पंचमेरुसिद्धचक्रविधान, चतुर्विंशति विधान आदि विधिपरक रचनायें भी मिलती हैं। विविध तीर्थकल्प

Jain Education International 2010_04 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को भी इसी में सम्मिलित किया जा सकता है जिसमें जिनप्रभसूरि ने जैन तीर्थों का ऐतिहासिक वर्णन किया है।

पौराणिक और ऐतिहासिक काव्य साहित्य

पौराणिक और ऐतिहासिक काव्य का सम्बन्ध जैनधर्म में मान्य महापुरुषों से आता है। इनमें उनके चरित, कर्मफल, लोकतत्त्व, दिव्यतत्त्व, आचारतत्त्व आदि का वर्णन किया जाता है। यहाँ तीर्थङ्करों, चरितनायकों, साधकों अथवा राजाओं के जीवन चरित्र को काव्यात्मक आधार देकर उपस्थित किया गया है।

मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र का कथानक सार्वदेशिक और सार्वकालिक रहा है। जैन काव्य धारा में भी उसकी अनेक परम्परायें सामने आयीं और उनमें काव्य लिखे गये। संस्कृत में लिखे काव्यों में रविषेण (वि०सं० ७३४) का पद्मपुराण अथवा पद्मचरित, (१८०२३ श्लोक), जिनदास (१६वीं शती), सोमसेन, धर्मकीर्ति, चन्द्रकीर्ति आदि विद्वानों के पद्मपुराण प्रसिद्ध हैं। महाभारत विषयक पौराणिक महाकाव्यों में जिनसेन का हरिवंशपुराण (शक सं० ७०५), देवप्रभसूरि (वि०सं० १२७०) का पाण्डवचरित, सकलकीर्ति (१५वीं शती) का हरिवंशपुराण, शुभचन्द्र (वि०सं० १६०८), वादिचन्द्र (वि०सं० १६५४) व श्रीभूषण (वि०सं० १६५७) आदि के पाण्डवपुराण प्रमुख हैं। इस कथा को जैनाचार्यों ने बड़ी प्रगतिशीलता एवं बौद्धिकता के साथ प्रस्तुत किया है।

त्रेसठशलाका महापुरुषों से सम्बद्ध संस्कृत साहित्य परिमाण में कहीं और अधिक है। जिनसेन का आदिपुराण, गुणभद्र (८वीं शती) का उत्तरपुराण (शक सं० ७७०), श्रीचन्द्र का पुराणसार (वि०सं० १०८०), दामनन्दि (११वीं शती) का पुराणसार संग्रह- मुनि मल्लिषेण का त्रिषष्टिमहापुराण (वि०सं० ११०४), आशाधर का त्रिषष्टिस्मृतिशास्त्र (वि०सं० १२८२), हेमचन्द्र का त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित (वि०सं० १२२८) आदि ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं। इसी प्रकार अमृतचन्द्र का चतुर्विंशतिजिनेन्द्र संक्षिप्तचरितानि (१२३८ ई०), अमरचन्द्रसूरि का पद्मानन्द महाकाव्य (वि०सं० १२९४), वीरनन्दि का चन्द्रप्रभचरित (११वीं शती), मानतुंगसूरि का श्रेयांसनाथचरित (वि०सं० १३३२), वर्धमानसूरि का वासुपूज्यचरित (वि०सं०.१२९९), ज्ञानसागर का विमलनाथचरित (वि०सं० १५१७), असग का शान्तिनाथपुराण (शक सं० ९१०), माणिक्यचन्द्रसूरि का शान्तिनाथचरित[१]

---

१. जितप्रभसूरि, देवसूरि, भावचन्द्रसूरि आदि अनेक लेखकों के भी इस नाम से ग्रन्थ मिलते हैं।

Jain Education International 2010_04 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

(वि०सं० १२७६), विनयचन्द्र सूरि का मल्लिनाथचरित, मुनिसुव्रतनाथचरित, कीर्तिराज उपाध्याय का नेमिनाथ महाकाव्य (१४वीं शती), गुणविजयगणि का नेमिनाथचरित (वि०सं० १६६८), वादिराजसूरि (शक सं० ९४७), माणिक्यचन्द्रसूरि, विनयचन्द्रसूरि, भावदेवसूरि आदि के पार्श्वनाथचरित, असग का महावीरचरित (वि०सं० १०४५), सकलकीर्ति का वर्धमानचरित आदि ग्रन्थ भी उत्तमकोटि के हैं।

चक्रवर्तियों पर भी अनेक संस्कृत काव्य लिखे गये हैं। चौबीस कामदेवों में नल भी एक लोकप्रिय विषय रहा है जिस पर लगभग पन्द्रह काव्य लिखे गये हैं। उनके अतिरिक्त हनुमान, वसुदेव, बलिराज, प्रद्युम्न[१] नागकुमार,[२] जीवन्धर और जम्बूस्वामी पर भी शताधिक संस्कृत काव्यों का प्रणयन हुआ है। जीवन्धर का आधार लेकर क्षत्रचूड़ामणि, गद्यचिन्तामणि (वादीभ सिंह), जीवन्धरचम्पू (हरिचन्द्र) तथा जम्बूस्वामीचरित का आधार लेकर पच्चीसों ग्रन्थ लिखे गये हैं। प्रत्येकबुद्धों (करकुण्ड, नग्गई, नमि और दुर्मुख) पर श्वेताम्बर परम्परा में अधिक ग्रन्थ लिखे गये हैं[३] जबकि दिगम्बर परम्परा में केवल करकण्डु को रचना का विषय बनाया गया है।

इनके अतिरिक्त काव्य में कुछ ऐसे भी महापुरुषों के जीवनचरितों को अपने लेखक का विषय बनाया गया है जिनका सम्बन्ध महावीर, श्रेणिक अथवा जैन संस्कृति से रहा है। ऐसे चरितों में धन्यकुमार, शालिभद्र, पृथ्वीचन्द्र, आद्रक कुमार, जयकुमार, सुलोचना, पुण्डरीक, वरांग, श्रेणिक, अभयकुमार, गौतम, मृगापुत्र, सुदर्शन, चन्दना, मृगावती, सुलसा आदि व्यक्तियों पर लिखे गये चरित काव्यों की संख्या शताधिक है। आचार्यों को भी चरित काव्यों का विषय बनाया गया है। भद्रबाहु, स्थूलभद्र, कालकाचार्य वज्रस्वामी, पादलिप्तसूरि, सिद्धसेन वप्पिभट्टि, हरिभद्रसूरि, सोमसुन्दरसूरि, सुमतिसम्भव, हीरसौभाग्य, विजयदेव, भानुचन्द्रगणि, दिग्विजय, जिनकृपाचन्द्रसूरि आदि ऐसे ही प्रमुख आचार्य कहे जा सकते हैं जिनपर जैन विद्वानों ने संस्कृत काव्य लिखे हैं।

जैनाचार्यों ने ऐतिहासिक महापुरुषों पर भी संस्कृत महाकाव्य का सृजन किया है इससे उनके ऐतिहासिक ज्ञान का पता चलता है। हेमचन्द्र के कुमारपाल

---

१. महासेनाचार्य सकलकीर्ति, शुभचन्द्र, यशोधर आदि के प्रद्युम्नचरित उपलब्ध हैं।

२. मल्लिषेण, धर्मधर, दामनन्दि आदि के नागकुमारचरित प्राप्त हैं।

३. कुम्मापुत्त और अम्बड को भी प्रत्येक बुद्धों से सम्बद्ध किया जाता है।

Jain Education International 2010_04 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

और द्वाश्रय महाकाव्य (संस्कृत-प्राकृत मिश्रित), अरिसिंह का सुकृत संकीर्तन (वि०सं० १२७८), बालचन्द्रसूरि का वसन्तविलास (वि०सं० १३३४), नयचन्द्रसूरि का हम्मीर महाकाव्य (वि०सं० १४४०), जिनहर्षगणि का वस्तुपालचरित (वि०सं० १४९७), सर्वानन्द का जगडूचरित (वि०सं०.१३५०), प्रभाचन्द्र का प्रभावकचरित (वि०सं० १३३४), तथा मेरुतुंगसूरि का प्रबन्ध चिन्तामणि (वि०सं० १३६१), आदि ग्रन्थ विशेष उल्लेखनीय हैं। इन ग्रन्थों में वर्णित राजाओं ने जैनधर्म के प्रचार-प्रसार में पर्याप्त योगदान दिया है। इसी प्रकार अनेक प्रशस्तियाँ, पट्टावलियाँ गुर्वावलियाँ, तीर्थमालायें, शिलालेख, मूर्तिलेख आदि भी संस्कृत भाषा में निबद्ध हैं।

कथा साहित्य

जैनाचार्यों ने सम्भवत: कथा ग्रन्थों की सर्वाधिक रचना की है। यद्यपि ये कथायें घटना-प्रधान अधिक हैं, परन्तु उनमें एक विशेष लक्ष्य दिखाई देता है। यह लक्ष्य है — आध्यात्मिक चरम साधना के उत्कर्ष की प्राप्ति। इस सन्दर्भ में लेखकों ने आगमों में वर्णित कथाओं का आश्रय तो लिया ही है, साथ ही नीति कथाओं की पृष्ठभूमि में लौकिक कथाओं का भी भरपूर उपयोग किया है। हरिषेण का बृहत्कथा कोष (वि०सं० ९५५), प्रभाचन्द्र तथा नेमिचन्द्र के कथाकोश, सोमचन्द्रगणि का कथा महादधि (वि०सं० १५२०), शुभशीलगणि का प्रबन्ध पञ्चशती, सकलकीर्ति आदि के व्रतकथाकोष, गुणरत्नसूरि का कथार्णव, अनेक कवियों के पुण्याश्रव कथाकोश आदि रचनायें श्रेष्ठ संस्कृत काव्य को प्रस्तुत करती हैं। इनमें तत्कालीन प्रचलित अथवा कल्पित कथाओं को जैन धर्म का पुट देकर निबद्ध किया है। धर्माभ्युदय, सम्यक्त्वकौमुदी, धर्मकल्पद्रुम, धर्मकथा, उपदेशप्रासाद, सप्तव्यसन कथा आदि कथात्मक ग्रन्थों में व्रत पूजादि से सम्बद्ध कथाओं का संकलन है। धर्मपरीक्षा नाम के भी अनेक कथा ग्रन्थ इसी विषय से सम्बद्ध मिलते हैं। सिद्धर्षि की उपमितिभवप्रपञ्चकथा (वि०सं० ९६२) तथा नागदेव का मदनपराजय (लगभग १५वीं शती) जैसे कुछ ग्रन्थ ऐसे भी प्राप्त होते हैं, जो रूपक शैली में कर्मकथा कहने का उपक्रम करते हैं।

धर्म के किसी पक्ष को प्रस्तुत करने के लिए साहित्य अथवा इतिहास से किसी व्यक्ति का चरित उठा लिया गया और उसे अपने ढंग से प्रस्तुत कर दिया गया। यशोधर का चरित्र ऐसा ही क्रम है जो लेखकों को बड़ा प्रिय लगा। सोमदेव (१०वीं शती) ने उसे यशस्तिलकचम्पू में निबद्ध कर और भी रुचिकर बना दिया। दशों ग्रन्थ संस्कृत साहित्य में इस कथा का आधार लेकर रचे गये

Jain Education International 2010_04 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हैं। अहिंसा के माहात्म्य को यहाँ अभिव्यक्ति किया गया है। लगभग बीस ग्रन्थ 'श्रीपालचरित' के मिलते हैं जिनमें सिद्धचक्र के माहात्म्य को प्रस्तुत किया गया है। भविष्यदत्तकथा, मणिपतिचरित, सुकोशलचरित, सुकुमालचरित, जिनदत्तचरित, गुणवर्मचरित, चम्पकश्रेष्ठीकथा, धर्मदत्तकथा, रत्नपालकथा, नागदत्तकथा, आदि सैकड़ों ग्रन्थ मिलते हैं जिनमें इस प्रकार की कथाओं के माध्यम से धर्म और संस्कृति को उद्घाटित किया गया है।

कुछ ऐसे भी कथा ग्रन्थ हैं जिनमें महिला वर्ग को पात्र बनाया गया है। रत्नप्रभाचार्य (१३वीं शती) की कुवलयमालाकथा, जिनरत्नसूरि (वि०सं० १३४०) की निर्वाणलीलावतीकथा, माणिक्यसूरि (१५वीं शती) की महाबलमलयसुन्दरी आदि शताधिक कथाग्रन्थ प्रसिद्ध हुए हैं।

इसी प्रकार तिथि, पर्व, पूजा, स्तोत्र, व्रत आदि से सम्बद्ध सैकड़ों कथायें हैं जिन्हें जैनाचार्यों ने संस्कृत भाषा में निबद्ध किया है। विक्रमादित्य की कथा भी बहुत लोकप्रिय हुई है। कुछ धूर्ताख्यान और नीतिकथात्मक साहित्य भी मिलता है। जिनसे जीवन की सफलता के सूत्र सम्बलित किये जाते हैं।

ललित वाङ्मय

जैनाचार्यों ने संस्कृत के ललित वाङ्मय को भी बहुत समृद्ध किया है। उन्होंने महाकाव्य, खण्डकाव्य, नीतिकाव्य, सन्देशकाव्य, नाटक आदि अनेक विधाओं पर अपनी लेखनी चलायी है। महासेनसूरि का प्रद्युम्नचरित (१०वीं शती), वाग्भट का नेमिनिर्वाण काव्य (१०वीं शती), वीरनन्दि (११वीं शती) का चन्द्रप्रभचरित, असग का वर्धमानचरित (१०वीं शती), हरिचन्द का धर्मशर्माभ्युदय (१३वीं शती), जिनपालगणि (१३वीं शती) का सनत्कुमारचरित, अभयदेवसूरि (वि०सं० १२७८) का जयन्तविजय, वस्तुपाल (१३वीं शती) का नरनारायणनन्द, अर्हत्दास (१३वीं शती) के मुनिसुव्रत काव्य, पुरुदेवचम्पू और भव्यकण्ठाभरण, जिनप्रभसूरि का श्रेणिकचरित (वि०सं० १३५६), मुनिभद्रसूरि का शान्तिनाथचरित (वि०सं० १४१०), भूरामल का जयोदय महाकाव्य (वि०सं० १९९४) आदि महाकाव्य परम्परागत महाकाव्यों के लक्षणों से अलंकृत हैं। उनकी भाषा भी प्राञ्जल और ओजमयी है। धनञ्जय (८वीं शती) का द्विसन्धान महाकाव्य और मेघविजयगणि का सप्तसन्धान महाकाव्य (वि०सं० १७६०), जयशेखरसूरि का जैनकुमार सम्भव (वि०सं० १४८३), धनपाल (१वीं शती) की तिलकमञ्जरी, वादीभसिंह (१०१५-११५० ई०) की गद्य चिन्तामणि, सोमदेव का यशस्तिलकचम्पू (वि०सं० १०१६), हरिचन्द का जीवन्धरचम्पू आदि काव्य भी संस्कृत साहित्य के आभूषण

Jain Education International 2010_04 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कहे जा सकते हैं।

सन्देश काव्यों में पार्श्वाभ्युदय (जिनसेनाचार्य, ८वीं शती) नेमिदूत (विक्रम १४वीं शती), जैनमेघदूत (मेरुतुंग, १४वीं शती), शीलदूत (चरित्र सुन्दरगणि, वि०सं० १४८४), पवनदूत (वादिचन्द्र, वि०सं० १७२७), चेतोदूत, मेघदूत समस्यालेख, इन्द्रदूत, चन्द्रदूत आदि काव्यों में गीतितत्त्व वस्तुकथा का आश्रय लेकर सुन्दर ढंग से सँजोये गये हैं। जैनस्तोत्र साहित्य तो और भी समृद्ध हैं उसके भक्तामरस्तोत्र कल्याणमन्दिर स्तोत्र, जिनसहस्रनाम तो अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। नाटक के क्षेत्र में भी जैनाचार्यों का कम योगदान नहीं। उन्होंने पौराणिक, ऐतिहासिक, रूपक और काल्पनिक विद्याओं में नाटकों की रचना की है। रामचन्द्र (१३वीं शती) के सत्य हरिचन्द्र, नलविलास, मल्लिकामकरन्द, कौमिदी मित्राणंद, रघुविलास, निर्भयभीम व्यायोग, रोहिणी मृगांक, राघवाभ्युदय, यादवाभ्युदय और वनमाला, देवचन्द्र का चन्द्रविजय प्रकरण विजयपाल का द्रौपदी स्वयंवर, रामभद्र का प्रबुद्धरोहिणेय, यशपाल का मोहराज पराजय (१३वीं शती) यशचन्द्र का मुद्रित कुमुदचन्द्र, हस्तिमल्ल (१३-१४वीं शती) के अंजना-पवनंजय, सुभद्रानाटिका, विक्रान्तकौरव, मैथिलीकल्याण, वादिचन्द्र का ज्ञान सूर्योदय(वि०सं० १६४८) आदि दृश्यकाव्य एक ओर जहाँ नाटकीय तत्त्वों से भरे हुए हैं वहीं उनमें जैन तत्त्वों का भी पर्याप्त अंकन है। इन सभी काव्यों में यद्यपि शृङ्गार आदि रसों का यथास्थान प्रयोग हुआ है पर प्रमुख रूप से शान्त रस ने स्थान लिया है। जयसिंह सूरिकृत हम्मीरमर्दन, रत्नशेखरसूरिकृत प्रबोधचन्द्रोदय, मेघप्रभाचार्यकृत मदन पराजय भी उत्तम कोटि की नाट्य कृतियाँ हैं।

लाक्षणिक - साहित्य

लाक्षणिक साहित्य के अन्तर्गत व्याकरण, कोश, अलङ्कार, छन्द, संगीत, कला, गणित, ज्योतिष, आयुर्वेद, शिल्प इत्यादि विधायें सम्मिलित होती हैं। जैनाचार्यों ने इन विधाओं को भी उपेक्षित नहीं होने दिया। व्याकरण के क्षेत्र में देवनन्दि (६वीं शती) का जैनेन्द्र व्याकरण और उस पर लिखी अनेक वृत्तियाँ पाल्यकीर्ति (९वीं शती) का शाकटायन व्याकरण और उन पर लिखी वृत्तियाँ, हेमचन्द्र का सिद्धहेमचन्द्र शब्दानुशासन और उस पर लिखी अनेक वृत्तियाँ सर्वविदित हैं। उन्होंने जैनेतर सम्प्रदाय के आचार्यों द्वारा लिखित व्याकरण ग्रन्थों पर बीसों टीकायें लिखी हैं जो अपने आप में महत्त्वपूर्ण हैं। गुणनन्दी, सोमदेव, अभयनन्दी, पाल्यकीर्ति, गुणरत्न, भावचन्द्र त्रैविद्य आदि आचार्य इस क्षेत्र के प्रधान पण्डित रहे हैं।

Jain Education International 2010_04 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कोश के क्षेत्र में धनञ्जय (११वीं शती) की धनञ्जयनाममाला और अनेकार्थ नाममाला, हेमचन्द्र की अभिधान चिन्तामणि नाममाला और निघण्टु शेष तथा उन पर अनेक वृत्तियाँ, धरसेन (१३-१४वीं शती) का विश्वलोचन कोश आदि ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। हेमचन्द्र का काव्यानुशासन, वाग्भट का वाग्भटालंकार (१२वीं शती), नरेन्द्रप्रभसूरि का अलङ्कार महोदधि (वि०सं० १२८०), विनयचन्द्रसूरि की काव्य शिक्षा (१३वीं शती) आदि अनेक अलङ्कारशास्त्र उल्लेखनीय हैं। काव्यकल्पलता, नाट्यदर्पण, अलङ्कार चिन्तामणि, अलङ्कारशास्त्र, काव्यालङ्कार सार आदि और भी प्रसिद्ध अलङ्कार ग्रन्थ हैं।

ज्योतिष के क्षेत्र में प्रश्नपद्धति, भुवनदीपक, आरम्भसिद्धि, भद्रबाहुसंहिता केवलज्ञानहोरा, यन्त्रराज, त्रैलोक्यप्रकाश, होरामकरन्द, शकुनशास्त्र, मेघमाला, हस्तकाण्ड, नाड़ीविज्ञान, स्वप्नशास्त्र, केवलज्ञान प्रश्न चूड़ामणि, सामुद्रिकशास्त्र, आदि शताधिक ग्रन्थ हैं। इसी प्रकार आयुर्वेद के क्षेत्र में अष्टाङ्गसंग्रह, पुष्पायुर्वेद, मदन काम रत्न, नाड़ी परीक्षा, अष्टाङ्गहृदय वृत्ति, योग चिन्तामणि, आयुर्वेद महोदधि, रस चिन्तामणि, कल्याण कारक, ज्वर पराजय आदि ग्रन्थ अत्यन्त उपयोगी हैं। सोमदेव का नीतिवाक्यामृत, हंसदेव का मृगपक्षीशास्त्र और दुर्लभराज का हस्ती परीक्षा नामक ग्रन्थ भी संस्कृत जैनसाहित्य के अमूल्य मणि है। इन ग्रन्थों से जैनाचार्यों का वैदूष्य देखा जा सकता है।

अपभ्रंश साहित्य

अपभ्रंश साहित्य में जनजीवन में प्रचलित कथाओं का प्रयोग विशेष रूप से किया गया है। उसमें लोकोपयोगी साहित्य के सृजन पर अधिक ध्यान दिया गया है। पुराण, चरित, कथा, रासा, फागु इत्यादि अनेक विधाओं पर जैनाचार्यों ने अपनी स्फुट रचनायें लिखी हैं जिनका संक्षिप्त उल्लेख हम नीचे कर रहे हैं —

अपभ्रंश में प्राचीनतम 'पुराण' साहित्य में स्वयम्भू (७वीं-८वीं शती) का पउमचरिउ सर्वप्रथम उल्लेखनीय है। उनका रिट्ठणेमिचरिउ (हरिवंशपुराण) भी उपलब्ध है। हरिवंशपुराण नाम की अन्य कृतियां भी मिलती हैं जो धवल (१०-११वीं शती) और यशःकीर्ति (१५वीं शती) द्वारा लिखी गई हैं। इनके अतिरिक्त पुष्पदन्त (१०वीं शती) के तिसट्ठिमहापुरिसगुणालंकारु (महापुराण), जसहरचरिउ और णायकुमारचरिउ, धनपाल धक्कड़ का भविसयत्तकहा (१०वीं शती), कनकामर का करकण्डचरिउ (१०वीं शती), धाहिल का पउमसिरिचरिउ (१०वीं शती), हरिभद्र का सणत्कुमारचरिउ (१०वीं शती), वीर का जम्बूसामिचरिउ (११वीं

Jain Education International 2010_04 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शती), नयनन्दि का सुदंसणचरिउ, नरसेन का सिरिवालचरिउ, पद्मकीर्ति का पासणाहचरिउ पुराण अथवा चरित काव्य के सुन्दर निदर्शन हैं।

अपभ्रंश के कुछ 'प्रेमाख्यानक' काव्य हैं जिनका प्रभाव हिन्दी के प्रेमाख्यानक काव्यों पर भलीभांति देखा जा सकता है। ऐसे काव्यों में साधारण सिद्धसेन की विलासवतीकथा तथा रल्ह की जिनदत्तचउपई विशेष उल्लेखनीय हैं। 'खण्ड काव्यों' में सोमप्रभसूरि का कुमारपालप्रतिबोध, वरदत्त का वज्रस्वामीचरित, हरिदेव का मयणपराजयचरिउ, अब्दुल रहमान का सन्देश रासक, रइधू का आत्मसम्बोधन काव्य, उदयकीर्ति की सुगन्धदशमीकथा, कनकामर का करकण्डचरिउ आदि ग्रन्थ प्रमुख हैं। 'रास' साहित्य तो मुख्यत: जैनों का ही है। उनकी संख्या लगभग ५०० तक पहुँच जायेगी। 'रूपक' काव्यों में मयणपराजयचरिउ, मयणजुज्झ, सन्तोषतिलकजयमाल, मनकरभारास आदि ग्रन्थों को प्रस्तुत किया जा सकता है।

अपभ्रंश में 'आध्यात्मिक' रचनायें भी मिलती हैं। योगीन्दु (६वीं शती) के परमप्पयासु और योगसार, रामसिंह (हेमचन्द्र से पूर्व) का पाहुडदोहा, सुप्रभाचार्य का वैराग्यसार, महचन्द का दोहापाहुड, देवसेन का सावयधम्मदोहा, आदि ग्रन्थ इसी से सम्बद्ध हैं। सैकड़ों ग्रन्थ तो अभी भी सम्पादक विद्वानों की ओर निहार रहे हैं।

यहाँ प्राकृत, संस्कृत तथा अपभ्रंश भाषा में रचित जैन साहित्य का संक्षिप्त विवरण अथवा उल्लेख मात्र किया गया है। वस्तुत: साहित्य की हर विधाओं में जैनाचार्यों का योगदान अविस्मरणीय है। वह ऐसा भी नहीं कि किसी एक काल अथवा क्षेत्र से बंधा हो। उन्होंने तो एक ओर जहां संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश में लिखा है वहीं दूसरी ओर तमिल, तेलगू, कन्नड़, हिन्दी, मराठी, गुजराती, बंगला आदि आधुनिक भारतीय भाषाओं में भी प्रारम्भ से ही साहित्य-सर्जना की है। इन सबका विशेष आकलन करना अभी शेष है। लगभग इन सभी भाषाओं और क्षेत्रों में जैन साहित्यकार ही आद्य प्रणेता रहे हैं। जैनेतर साहित्यकारों को उनके व्यक्तित्व और कृतित्व से जो प्रेरणा मिली है वह भी उनके साहित्य में देखी जा सकती है।

अन्य भारतीय भाषाओं का जैन साहित्य

तमिल जैन साहित्य

ई०पू० की शताब्दियों में दक्षिण भारत में जैनधर्म के पैर काफी मजबूत

Jain Education International 2010_04 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हो चुके थे। उसकी स्थिति का प्रमाण तमिल भाषा के प्राचीन साहित्य में खोजा जा सकता है। तोलकाटिपयम् तमिलभाषा का सर्वाधिक प्राचीन व्याकरण ग्रन्थ है जिसे किसी जैन विद्वान् ने लिखा था। कुरल काव्य तमिल भाषा में लिखे नीति ग्रन्थों का अग्रणी रहा होगा। इसके रचयिता आचार्य कुन्दकुन्द अपरनाम एलाचार्य मानेजाते हैं। एक अन्य जैन गन्थ नालडियार का नाम भी उल्लेखनीय है जो नीति गन्थों में महत्त्वपूर्ण है।

तमिल साहित्य में पांच महाकाव्य हैं — शिलप्पदिकारम, वलयापनि, चिन्तामणि, कुण्डलकेशि और मणिमेखलै। इनमें से प्रथम तीन जैन लेखकों की कृतियाँ हैं और अन्तिम दो बौद्ध लेखकों की देन है। नरिविरुत्तम भी संसार की दशा का चित्रण करने वाला एक उत्तम जैन काव्य है। इन बृहत् काव्यों के अतिरिक्त पांच लघुकाव्य भी हैं जो जैन कवियों की कृतियाँ हैं — नीलकेशि, चूड़ामणि, यशोधर कावियम्, नागकुमार कावियम् तथा उदयपान कथै। वामनमुनि का मेरूमंदरपुराणकथा, अज्ञात कवियों के श्रीपुराण और कलिंगुत्तुप्परनि जैन ग्रन्थ भी उल्लेखनीय हैं। छन्द शास्त्र में याप्परूंगलम्कारिकै, व्याकरणशास्त्र में नेमिनाथम् और नन्नूलू, कोश क्षेत्र में दिवाकर निघण्टु, पिंगल निघण्टु, और चूड़ामणि निघण्टु तथा प्रकीर्ण साहित्य में तिरूनूरन्तादि और तिरुक्कलम्बगम्, गणित साहित्य में ऐंचूवडि तथा ज्योतिष साहित्य में जिनेन्द्र मौलि ग्रन्थ तमिल भाषा के सर्वमान्य जैन ग्रन्थ हैं।

तेलगू जैन साहित्य

तमिल और कन्नड़ क्षेत्र में जैनधर्म का प्रवेश उसके इतिहास के प्रारम्भिक काल में ही हो गया था। तब यह स्वाभाविक है कि आन्ध्रप्रदेश में उससे पूर्व ही जैनधर्म पहुँच गया होगा। राजराज द्वितीय के समय में आन्ध्रप्रदेश में वैदिक आन्दोलन का प्रभाव यहाँ तक हुआ कि उस समय तक के समूचे कलात्मक और साहित्यिक क्षेत्र को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया गया। तेलगू साहित्य के प्राचीनतम कवि नन्नय भट्ट ने ११वीं शती में इस तथ्य को अप्रत्यक्ष रूप में अपने महाभारत में स्वीकार किया है। श्रीशैल प्रदेश में जैनधर्म का अस्तित्व रहा है। तेलगू के समान मलयालम में भी जैन साहित्य कम मिलता है पर जो भी मिलता है वह कम महत्त्वपूर्ण नहीं है।

कन्नड़ जैन साहित्य

कर्नाटक प्रदेश में जैनधर्म प्रारम्भ से ही लोकप्रिय रहा है। गंग, कदम्ब, राष्ट्रकूट, चालुक्य आदि वंशों के राजाओं, सामन्तों, सेनापतियों और मन्त्रियों

Jain Education International 2010_04 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

को उसने प्रभावित किया तथा जनसाधारण भी उसके लोकरंजक स्वरूप से प्रभावित हुए बिना नहीं रहा। श्रवणबेलगोला, पोदमपुर, कोपळ, पुन्नाड, हुमच आदि प्राचीन जैन स्थल इनके प्रतीक हैं। यहाँ की मूर्तिकला के क्षेत्र में जैनधर्म का विशेष योगदान रहा है।

प्रमुख जैन साहित्यकार भी इसी क्षेत्र में हुए हैं। आचार्य कुन्दकुन्द, उमास्वामी या उमास्वाति समन्तभद्र, पूज्यपाद, अकलंक, विद्यानन्द, अनन्तवीर्य, प्रभाचन्द्र, जिनसेन, गुणभद्र, वीरसेन, सोमदेव आदि आचार्यों के नाम अग्रगण्य हैं। ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों से लेकर बारहवीं शताब्दी तक जैनाचार्यों ने कन्नड़ साहित्य की रचना की। महाकवि कवितागुणार्णव पम्प (ई० ९४१), कविचक्रवर्ती पोन्न (ई० ९५०), कविरत्न रन्न (ई० ९९३), वीरमार्तण्ड चामुण्डराय (ई० ९७८), गद्य-पद्यविद्याधर श्रीधर (ई० १०४९), सिद्धान्तचूड़ामणि दिवाकरनन्दि (ई० १०६२), शान्तिनाथ (ई० १०६८), नागचन्द्र (ई० ११००), कन्ति (ई० ११००), नयसेन (ई० १११२), राजादित्य (ई० १११०), कीर्तिवर्मा (ई० ११२५), ब्रह्मशिव (ई० ११३०), कर्णपार्य (ई० ११४०), नागवर्मा (ई० ११४५), सोमनाथ (ई० ११५०), वृत्तविलास (ई० ११६०), नेमिचन्द (ई० ११७०), बोप्पण (ई० ११८०) अग्गल (ई० ११८९), आचण्ण (ई० ११९५), बन्धुवर्मा (ई० १२००), पार्श्वनाथ (ई० १२०५), जन्न (ई० १२३०), गुणवर्मा (ई० १२३५), कमलभाव (ई० १२३५), महाबल (ई० १२५४) आदि कवियों ने कन्नड़ साहित्य की श्रीवृद्धि की। व्याकरण, गणित, ज्योतिष, आयुर्वेद आदि सभी क्षेत्रों में आधुनिक काल तक जैन लेखक कन्नड़ भाषा में साहित्य-सृजन करते रहे हैं। समूचे जैन कन्नड़ साहित्य की विस्तृत रूपरेखा देना यहाँ सम्भव नहीं। यह उसका संक्षिप्त विवरण है।

मराठी जैन साहित्य

मराठी साहित्य का प्रारम्भ भी जैन कवियों से हुआ है। उन्होंने १६६१ ई० से लेखन कार्य अधिक आरम्भ किया। जिनदास, गुणदास, मेघराज, कामराज, सूरिजन, गुणनन्दि, पुष्पसागर, महीजन्द्र, महाकीर्ति, जिनसेन, देवेन्द्रकीर्ति, कललप्पा, भरमापन आदि जैन साहित्यकारों ने मराठी में साहित्य तैयार किया। यह साहित्य अधिकांश रूप से अनुवाद रूप में उपलब्ध होता है।

गुजराती जैन साहित्य

गुजराती भाषा का भी विकास अपभ्रंश से हुआ है। लगभग १२वीं शती से अपभ्रंश और गंजराती में पार्थक्य दिखाई देने लगा। गुजरात प्रारम्भ से ही

Jain Education International 2010_04 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैनधर्म और साहित्य-संस्कृति का केन्द्र रहा है। हेमचन्द्र आदि अनेक जैन आचार्य गुजरात में हुए जिन्होंने संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश में साहित्य-सृजन किया। लगभग १२वीं शती में जैन कवियों ने रासो, फागु, बारहमासा, कक्को, विवाहलु, चच्चरी, आख्यान आदि विधाओं को समृद्ध करना प्रारम्भ किया। इसके पूर्व उद्योतनसूरि (७७९ ई०) की कुवलयमाला तथा धनपाल की भविस्सयत्त कहा प्राकृत तथा अपभ्रंश के प्रसिद्ध काव्य हैं जो गुजराती के लिए उपजीव्य कहे जा सकते हैं। शालिभद्रसूरि (११८५ ई०) का भरतेश्वर बाहुबलिरास प्रथम प्राप्य गुजराती कृति है। उसके बाद धम्मु का जम्बूरास, विनयप्रभ का गौतमरास, पथसूथी का सिरिथूलिभद्द, राजशेखरसूरि का नेमिनाथ फागु, प्राचीन गुजराती साहित्य की श्रेष्ठ कृतियां हैं। इस काल में अधिकांश लेखक जैन हुए हैं।

भक्तिकाल में १५वीं शती में भी जैन ग्रन्थकार हुए हैं। शालिद्ररास, गौतमपृच्छा, जम्बूस्वामी विवाहलो, जावड भावडरास, सुदर्शन श्रेष्ठिरास आदि ग्रन्थ इसी शती के हैं। लावण्यसमय १६वीं शती के प्रमुख साहित्यकार थे। विमलप्रबन्ध भी इसी समय की रचना है। रास, चरित्र, विवाहलो, पवाड़ो आदि अन्य साहित्य भी इसी समय लिखा गया। १७वीं शती के जैन साहित्य में नेमिविजय का शीलवतीरास, समय सुन्दर का नलदमयन्तीरास, आनन्दघन की आनन्द चौबीसी और आनन्दघन बहोत्तरी प्रमुख हैं। इसी समय लोकवार्ता साहित्य तथा रास और प्रबन्ध भी लिखे गये। १८-१९वीं शती में भी साधुओं ने इसी प्रकार का साहित्य लिखा। उदयरत्न, नेमिविजय, देवचन्द, भावप्रभसूरि, जिनविजय, गंगविजय, हंसरत्न, ज्ञानसागर, भानुविजय आदि जैनसाहित्यकार उल्लेखनीय हैं। इन सभी ने गुजराती भाषा में विविध साहित्य लिखा है।

हिन्दी जैन साहित्य

हिन्दी साहित्य का तो प्रारम्भ ही जैन साहित्यकारों से हुआ है। उसका आदिकाल कब से माना जाय यह विवाद का विषय अवश्य रहा है पर स्वयम्भू और पुष्पदन्त को नहीं भुलाया जा सकता जिनके साहित्य में अपभ्रंश से हटकर हिन्दी की नयी प्रवृत्तियाँ दिखाई देती हैं। मुनिरामसिंह, महयंदिण मुनि, आनन्द तिलक, देवसेन, नयनन्दि, हेमचन्द, धनपाल, रामचन्द, हरिभद्रसूरि, आमभट्ट आदि जैन कवि उल्लेखनीय हैं। करकण्डचरिउ, सुदर्शनचरिउ, नेमिनाहचरिउ आदि अपभ्रंश साहित्य भी इसी काल का है। रासो, फागु, बेलि, प्रबन्ध आदि विधायें भी यहाँ समृद्ध हुई हैं। शालिभद्रसूरि (सन् ११८४) का बाहुबलिरास, जिनदत्तसूरि के चर्चरी, कालस्वरूप फुलकम् और उपदेश रसायन सार, जिनपद्मसूरि (वि०सं०

Jain Education International 2010_04 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१२५७) का थूलिभद्दफाग, धर्मसूरि (वि०सं० १२६६) का जम्बूस्वामीचरित्र, अभयतिलक (वि०सं० १३०७) का महावीररास, जिनप्रभसूरि का पद्मावती देवी चौपई और रल्ह का जिनदत्त चौपई विशेष उल्लेखनीय ग्रन्थ हैं।

हिन्दी साहित्य के मध्यकाल में भी जैनाचार्यों ने प्रबन्ध, चरित कथा, पुराण, रासा, रूपक, स्तवन, पूजा, चउपई, चूनड़ी, फागु, बेलि, बारहमासा आदि सभी प्रकार का साहित्य सृजन किया। साहित्यकारों में बनारसीदास, द्यानतराय, कुशललाभ, भूधरदास, दौलतराम, रायमल्ल, जयसागर, उपाध्याय, सकलकीर्ति, लक्ष्मीवल्लभ, रूपचन्द पाण्डे, भैया भगवतीदास, वृन्दावन, ब्रह्मजयसागर, देवीदास, ठकुरसी आदि शताधिक जैन कवियों ने हिन्दी साहित्य को समृद्ध किया। रहस्यभावना की दृष्टि से यह काल दृष्टव्य है।[१]

इसी प्रकार बंगला, उड़िया, आसमिया, पंजाबी आदि आधुनिक भारतीय भाषाओं में भी जैन साहित्य की विभिन्न परम्परायें उपलब्ध होती हैं। उन्होंने अपनी क्षेत्रीय भाषाओं के विकास में पर्याप्त योगदान दिया है।

इस प्रकार जैन साहित्य की परम्परा लगभग २५०० वर्ष से अविरल रूप से प्रवाहित होती आ रही है। उसमें सामयिक गतिविधियाँ और साहित्यिक तथा सामाजिक आन्दोलन के स्वर भी मुखरित हुए हैं। समीक्षात्मक दृष्टि से देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि लगभग हर विधा के जन्मदाता जैनसाहित्यकार ही हुए हैं। उनके योगदान का लेखा-जोखा अभी भी शेष है। विद्वानों को इस ओर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है। यदि समूचा जैन साहित्य प्रकाश में आ जाय तो निश्चित ही नये मानों की स्थापना और पुराने प्रतिमानों का स्वरूप बदल जायेगा।

भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का यह अवदान सांस्कृतिक, दार्शनिक, भाषिक, साहित्यिक, आदि सभी क्षेत्रों में अनुपम रहा है। ये सारे क्षेत्र अपेक्षाकृत अभी कम ही अध्ययन के विषय हो सके हैं। शोधकों के लिए इसमें अपरिमित क्षेत्र है। साथ ही तुलनात्मक अध्ययन के लिए भी यहाँ सामग्री प्रभूत मात्रा में उपलब्ध है। विस्तारमय से यहाँ हम इस विषय को विराम दे रहे हैं।

●

---

१. विशेष देखिए - मध्यकालीन हिन्दी जैन काव्य में रहस्यभावना, डॉ० पुष्पलता जैन का शोधप्रबन्ध।

Jain Education International 2010_04 For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org